द्वैमासिक मई-जून 2011
20 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और मौजूदा व्यवस्था से जुड़े कुछ अहम सवाल

मानव ज्ञान का चरित्र और विकास

टेरी ईगलटन की त्रासद आध्यात्मिकता की आध्यात्मिक त्रासदी

कविता कृष्णपल्लवी की पाँच कविताएँ

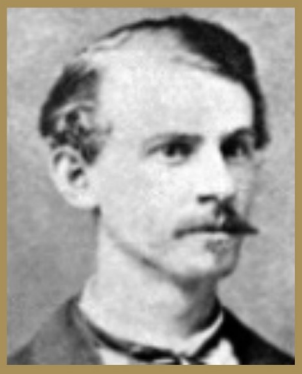

अल्बर्ट पार्सन्स

जन्म : 20 जून, 1848

मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी

पेशा : प्रिण्टिंग प्रेस का मज़दूर

"हमारी मौत दीवार पर लिखी ऐसी इबारत बन जायेगी जो नफ़रत, बैर, ढोंग-पाखण्ड, अदालत के हाथों होने वाली हत्या, अत्याचार और इन्सान के हाथों इन्सान की ग़ुलामी के अन्त की भविष्यवाणी करेगी। दुनियाभर के दबे-कुचले लोग अपनी क़ानूनी बेड़ियों में कसमसा रहे हैं। विराट मज़दूर वर्ग जाग रहा है। गहरी नींद से जागी हुई जनता अपनी ज़ंजीरों को इस तरह तोड़ फेंकेगी जैसे तूफ़ान में नरकुल टूट जाते हैं।"

– अल्बर्ट पार्सन्स

ऑगस्ट स्पाइस

जन्म : 10 दिसम्बर, 1855

मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी

पेशा : फर्नीचर कारीगर

"एक दिन आयेगा जब हमारी ख़ामोशी उन आवाज़ों से ज़्यादा ताक़तवर साबित होगी जिनका तुम आज गला घोंट रहे हो!"

– ऑगस्ट स्पाइस

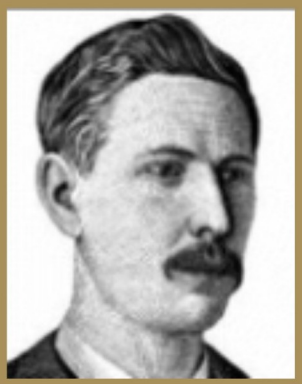

एडॉल्फ फिशर

जन्म : 1858

मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी

पेशा : प्रिण्टिंग प्रेस का मज़दूर

"वह इन्सानियत की मुक्ति के लिए अपनी जान की क़ुर्बानी देने की इच्छा रखता था और उसे उम्मीद थी कि ऐसा ही होगा। उसे मज़दूर वर्ग की हालत में थोड़े-बहुत सुधार करने वाले उपायों पर ज़रा भी भरोसा नहीं था।"

– विलियम होल्म्स

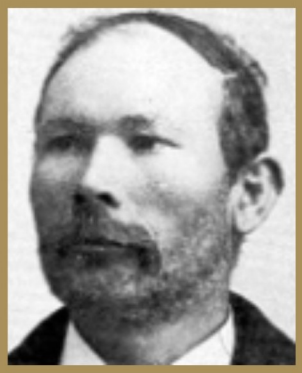

जॉर्ज एंजिल

जन्म : 15 अप्रैल, 1836

मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी

पेशा : खिलौने बेचनेवाला

"एंजिल मज़दूर वर्ग के संघर्ष का एक बहादुर सिपाही था। वह मेहनतकशों की मुक्ति के लक्ष्य के लिए जीजान लड़ा देने वाला बाग़ी था।"

– ऑस्कर नीबे

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➤ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ क़ायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी क़ायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमन्त्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में क़ैद नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➤ 'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिए नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

पाठक मंच 2

अपनी ओर से

पश्चिम बंगाल : भारतीय वामपन्थ का संकट या संशोधनवादी सामाजिक फ़ासीवाद से खुले प्रतिक्रियावादी पूँजीवाद की ओर संक्रमण? 5

विशेष लेख

अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और मौजूदा व्यवस्था से जुड़े कुछ अहम सवाल 9

सामयिकी

भूमण्डलीकरण उदारीकरण के दौर की हड़पनीति! 15

फ़ार्बिसगंज पुलिस दमन : बर्बरों के "सुशासन" का असली चेहरा 31

शिक्षा जगत

'पंसारी की दुकान' से 'शॉपिंग मॉल' बनने की ओर अग्रसर यह विश्वविद्यालय 18

विज्ञान

मानव ज्ञान का चरित्र और विकास 20

आमन्त्रण – तृतीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी

भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन : दिशा, समस्याएँ, और चुनौतियाँ 27

युवा चिन्तन

टेरी ईगलटन की त्रासद आध्यात्मिकता की आध्यात्मिक त्रासदी 35

साहित्य

कविता कृष्णपल्लवी की पाँच कविताएँ 41

पुस्तक समीक्षा

प्रेम की आज़ादी के लिए परम्परा से विद्रोह 43

सकर्मक विमर्श 48-50

अरुणिमा को ग़लत साबित करने का कुचक्र रचती सिद्धान्तहीन राजनीति • पूँजीवादी न्याय और मानवता के प्रचार का झूठा, अधूरा और वर्ग-केन्द्रित चरित्र

गतिविधि बुलेटिन 51-55

श्रम क़ानूनों के उल्लंघन के ख़िलाफ़ दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के नेतृत्व में मेट्रो रेल ठेका कर्मचारियों के संघर्ष का नया दौर शुरू • 'नौजवान भारत सभा' के बैनर तले खदरा इलाक़े के नागरिकों द्वारा धरना-प्रदर्शन

मुक्तिकामी छात्रों युवाओं का आह्वान

वर्ष 3 अंक 3
मई-जून 2011

सम्पादक
अभिनव
सह-सम्पादक
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य **दस रुपये**
इस अंक का मूल्य **बीस रुपये**
वार्षिक सदस्यता : **80 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता : **160 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता : **400 रुपये**
आजीवन सदस्यता : **2000 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन : 011-64623928, 9211662298
ईमेल : ahwan.editor@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

योग+क्रान्ति का सही "पोस्टमार्टम"

प्रिय साथी,

मैं "आह्वान" को अप्रैल-जून 2009 के अंक से पढ़ रहा हूँ तथा यथासम्भव पुराने अंक भी पढ़े। हर नये अंक के साथ "आह्वान" नयी उर्जस्विता तथा नये फौलादी संकल्प लिये होता है। यह युवा साथियों के सामूहिक श्रम तथा सृजनशीलता का ही नतीजा है। "आह्वान" का पाठक वृन्द भी इसके नेचर के अनुरूप ही होना चाहिए, एक तो मैं कहना चाहूँगा कि साल में एक बार तो ज़रूर "आह्वान" का पाठक सम्मेलन किया जाने की ज़रूरत है, ताकि पत्रिका में उठाये सवालों पर तथा "रास्ते" पर संजीदगी से सोचा जा सके। दूसरा, संवेदनशील पाठकों की भी यह महती ज़िम्मेदारी बनती है कि "आह्वान" अधिक से अधिक नये मुक्तिकामी-उर्जस्वी तथा संकल्पशील युवाओं तक पहुँचे ताकि बदलाव के लिए मनोगत ताक़तों को तैयार किया जा सके और सैकड़ों सालों के औपनिवेशिक गुलामी के संस्कारों व कूपमण्डूकताओं को युवा दिमाग़ों से उखाड़ा जा सके। इसके अलावा आह्वान का पिछला अंक शानदार था। बजट तथा पानी के निजीकरण पर आये लेख पूँजीवादी समाज की सटीक तस्वीर पेश करते हैं। अन्ना हज़ारे व उनकी "सिविल" सोसाइटी के सुधारवाद तथा बाबा रामदेव के योग+क्रान्ति का सही "पोस्टमार्टम" किया है।

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ

अरविन्द राठी

ज़िला – झज्जर, (हरियाणा)

बाबा-बाबा! कित्ता पानी...

सम्पादक महोदय,

"आह्वान" का मार्च-अप्रैल 2011 का अंक मिला। लम्बे इन्तज़ार के बाद मिला। लेकिन पत्रिका के नये अंक में मौजूद सामायिक मुद्दों पर लिखें लेखों ने अपने सामने उपस्थित सवालों का सीधा जबाब दिया। वैसे तो "आह्वान" का हर अंक विचारोत्तेजक होता है, यह अंक विगत अंकों से बढ़कर लगा।

इस समय देश में "भ्रष्टाचार" नामक बीमारी के ख़िलाफ़ देश का कुलीन तबक़ा जाग उठा है। अन्ना से लेकर रामदेव बाबा तक लम्बी-लम्बी साँसें लेकर देश बचाने की शपथ ले रहें हैं। जो अमीरजादे, मध्यवर्गीय जमात के धवल वस्त्रधारी महामान्य जन अपने घरों में ग़रीब बच्चों को घरेलू नौकर बनाकर रखते हैं। कभी नहीं सोच पाते हैं कि ऐसे बच्चों की तादाद कितनी है। उनके आँखों में कौन से सपने पलते हैं। इनके आस-पास से गुज़रने वाली कितनी आबादी है जो काम की तलाश में भेड़ों की रेवड़ के मानिन्द अलस्सुबह भागती नज़र आती है। इनकी कौन सी समस्याएँ हैं? कौन से सवाल है? देश, राष्ट्र, स्वाभिमान की जुगाली करने वाले कारपोरेट बाबा उर्फ़ योग गुरु रामदेव कभी यह सवाल धीरे से भी नहीं उठाते कि बेरोज़गारी, भुखमरी आत्महत्याओं का कारण क्या है? यह कैसी मशीनरी है जो एक तरफ़ इन्हें स्कूटर से आकाशगामी रथी बना देती है महज़ 10 बरस में, वहीं इसी मशीनरी के कलपुर्जों के चलते हर मिनट एक मज़दूर मौत की गोद में समा जाता है। भाई प्रसेन ने अपने लेख में ठीक ही लिखा है कि ये मेहनतकशों के रक्तस्नानी दिव्य पुरुष हैं, चारमुखी ब्रह्मा हैं। अन्ना हज़ारे पर लिखा गया लेख आज इसलिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण लगा कि ये तथाकथित देश के दर्द में दुबले हो रहे सफ़ेद बगुले असली भ्रष्टाचार पर परदा डाल रहे हैं। इनके देश का मतलब साफ़-सुथरा सन्त पूँजीवाद। जिसमें मुनाफ़ाख़ोर मुनाफ़ा कमाता रहे और काम करने वाली आबादी लगातार रसातल में छटपटाती रहे। क्या ये अनायास है कि अन्ना एण्ड कम्पनी के अभिनय पर प्रमुदित सेठों ने नोटों की बोरियाँ खोल दीं। और क़लम घसीट ढिंढोरचीं अन्ना-वन्दना में तत्पर दिखें।

रामदेव बाबा जिन दिनों कालेधन को भारत में लाने के लिए मध्यवर्गीय जमात में हुँकार लगा रहे थे, ठीक उन्हीं दिनों दक्षिण के एक बाबा परलोकगामी हुए। पता चला कि माया-मोह से सदैव दूर रहने वाले आमजन को माया से मुक्ति का पाठ पढ़ाने वाले बाबा की घोषित सम्पत्ति 40,000 करोड़ आँकी गयी। हद तो तब हो गयी जब बाबा के शयन कक्ष की तलाशी ली गयी तो वहाँ माया का विपुल भण्डार मिला। सोना, चाँदी कईयों किलों की मात्रा में। बताते हैं कि बाबा के शयनागार से कुल 38 करोड़ की माया मिली। क्या यह काला धन नहीं है जो भूख, ग़रीबी से कलपती जनता को मुक्ति की चासनी चटाकर ये बाबा लोग इस जनता को ठगकर वसूलते हैं। यहीं क्यों तमाम अम्माएँ, बापू, स्वामी, देश की भूखी-नंगी जनता को सन्तोष का पाठ पढ़ाते हुए किनकी सेवाओं में लगे हैं? इन धर्म ध्वजाधारी वीरों को आख़िर पहली लड़ाई तो अपने आस-पास शुरू करनी चाहिए। महाराज रामदेव इस पर जाँच कमेटी बनाने की माँग क्यों नहीं करते कि देश के तमाम मठों, मन्दिरों, गुरुद्वारों में कितनी सम्पत्ति दबी पड़ी है जिन पर ये खाये-अघाये दूध में नहाये पण्डाजन कुण्डली मारे बैठे हैं। हम उम्मीद करते हैं कि "आह्वान" के आगामी अंकों में इन चतुर सुजानों की और पोल-पट्टी खुलेगी।

इस बार कला-चिन्तन के कॉलम में वरिष्ठ चित्रकार अशोक भौमिक का लेख पढ़ने को मिला। अच्छा लेख है। ख़ासकर तब जब समकालीन कला बाज़ार की गिरफ़्त में फँसकर आम जन से कट सी गयी है। ऐसे में लोकोन्मुखी कला से लगाव पैदा करना एक अच्छी शुरुआत है। कुल मिलाकर "आह्वान" का यह अंक बेहद अच्छा बन पड़ा है सिवाय एक कमी के कि पत्रिका का इन्तज़ार करना पड़ता है, देर तक। क्या मैं ग़लत हूँ?

अभिवादन सहित

राधेश्याम

फ़ैज़ाबाद, उत्तर प्रदेश

गुमराही के समुन्दर से मीठा पानी निकालने के लिए कड़ी मशक्कत करनी है...

सम्पादक महोदय,

"आह्वान" का मार्च-अप्रैल, 2011 का अंक मिला। पढ़कर वाक़ई लगा कि आज आम जनता ख़ासकर मेहनतकश जनता को किस क़दर गुमराह किया जा रहा है। इस अंक ने इतना सटीक व समाजवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसके ज़रिये तमाम सुधारवादियों के असल चेहरों से नक़ाब हटता हुआ महसूस हुआ। खाते-पीते मध्यवर्ग के धरने-प्रदर्शन का सच जिस तरीक़े से उजागर किया गया, वह बेमिसाल है। "आह्वान" पढ़ते हुए लगा कि वाक़ई यही मज़दूर वर्ग की आवाज़ है। दो माह बाद ही सही, पूँजीवादी हिन्दुस्तानी मीडिया से राहत की साँस मिलती है। वरना तो यह मीडिया वही बोलता है जो बिकता है। यानी मुनाफ़े की ख़ातिर। टी.वी. चैनल हो या अख़बार तरीक़े-तरीक़े के इस्तेहारों से अँटे पड़े हैं। कई बार तो लगता है कि ख़बरें नहीं विज्ञापन देखने-पढ़ने के पैसे दे रहे हैं। इस बात से बाआसानी अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि समाजवादियों को कितना काम करना है, इतने बड़े गुमराही के समुन्दर में मीठा पानी निकालने के लिए जितनी मशक्कत की ज़रूरत है वैसे ही। वरना तो असंख्य तथाकथित देशभक्त व समाज सुधारक, भ्रष्टाचार, महँगाई, बेरोज़गारी, आरक्षण जैसे पूँजीवाद जनित बीमारियों को असल मुद्दा बताकर पूँजीवाद व पूँजी के मददगार साबित होते रहेंगे। तथा मज़दूरों को शोषण व गुलामी भरी ज़िन्दगी जीने को मज़बूर करते रहेंगे। "आह्वान" बहुत बड़ा क़दम है। आप सभी लोग इतना बड़ा काम कर रहे हैं कि इसका अन्दाज़ा तब लगेगा जब सड़े-गले पतनशील पूँजीवाद के ख़िलाफ़ हर तरफ़ गगनभेदी आवाज़ें बुलन्द होंगी। क्योंकि पतनशील पूँजीवाद मज़दूरों को कुछ भी देने की हालत में नहीं रहा और अपनी आख़िरी साँसें गिन रहा है। भौतिक अवस्थाएँ मज़दूर वर्ग के पक्ष की हैं बस ज़रूरत है तो उन्हें सही तरीक़े से इस्तेमाल करने की यानी अन्ना हज़ारे और रामदेव, भ्रष्टाचार या लोकपाल बिल जैसे गुमराह करने वाले तत्वों व रास्तों के बारे में आम मेहनतकशों को आगाह व ख़बरदार व शिक्षित करना ताकि कार्ल मार्क्स के असल वैज्ञानिक समाजवाद के रास्ते पर चलकर अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया जा सके। मज़दूरों को बनी-बनायी राज्य मशीनरी से भी ख़बरदार रहना है, लिहाज़ा उनको अपने प्रचार-प्रसार के लिए खुद अपने परचे व अख़बार चलाने होते हैं और समाज में चल रहे घटनाक्रम का सटीक आकलन व वैज्ञानिक समीक्षा अपने पूरे वर्ग हित को ख़याल में रखकर पेश कर सकें। अन्त में आपकी पूरी टीम को धन्यवाद देना चाहता हूँ कि आपने गोरखपुर में आन्दोलनरत मज़दूरों के संघर्ष में अपनी पूरी हिमायत दी, जिसकी वजह से वह आन्दोलन दबाया न जा सका वरना हिन्दोस्तान के कितने ही मज़दूर, मिल मालिकों की ज़बरदस्त ज़ोर-ज़बरदस्ती के चलते अपना श्रम औने-पौने दामों पर बेचने को मजबूर हैं। "आह्वान" के अगले अंक के इन्तज़ार में –

सी.एस. गोस्वामी
आई.आई.टी., कानपुर, उत्तर प्रदेश

हक़ डकारने वाले ही उपकार का स्वाँग रचते हैं –

प्रिय साथी सम्पादक

"आह्वान" एक बेहतरीन पत्रिका है इसे नकारा नहीं जा सकता। यह एक नये छात्र-युवा आन्दोलन के लिए बहुत ही सहायक है। मुझे "आह्वान" इसलिए पसन्द है क्योंकि यह पुस्तक अन्य पत्र-पत्रिकाओं की तरह ख़बरों को घुमा-फिराकर मसालेदार चटपटा बनाने का काम नहीं करती, बल्कि सीधे सरल रूप से उस मुद्दे के उस दूसरे पहलू को बयाँ करती है। जिसे दबाने के लिए पुलिस, मीडिया तथा गली-मुहल्लों के छोटे-बड़े नेता पूरी मेहनत और लगन के साथ इस काम को करते रहते हैं, क्योंकि वे डरते हैं कि कहीं उनके उन बड़े-बड़े पूँजीपतियों तथा मन्त्रियों का असली चेहरा सबके सामने न आ जाये जिसे वे छोटे-छोटे कामों के ज़रिये छिपाये रखते हैं। जैसे – ग़रीब लड़कियों की शादी करने से लेकर, कम्बल, साड़ी, टी-शर्ट वग़ैरह बाँटना आदि भाँति-भाँति के कार्य करते रहते हैं। ये तो वही बात हो गयी दोस्तों मुँह में राम बग़ल में छूरी। पहले हमारे हक़ की चीज़ों का डकार जाते हो फिर हमीं पर उपकार भी कर जाते हो। ऐसी ख़बरें कभी-कभी घोटालों का रूप लेकर सामने भी आ जाया करती हैं, लेकिन इससे क्या होता है, क्या वे सारी चीज़ें हमें वापस मिल जाती हैं, नहीं।

"आह्वान" आम जनता ख़ासकर छात्रों-नौजवानों को जागरूक करने और संघर्ष के लिए प्रयत्नशील है। इस संघर्ष में मैं आपके साथ हूँ। मुख्य काम इस सड़ी-गली व्यवस्था को उखाड़ फेंकना है और एक नये समाज की स्थापना के लिए मेहनतकश जनता को एकजुट करना है ताकि संघर्ष के रास्ते पर चलकर एक नये समाज का निर्माण किया जा सके।

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ

प्रेम
झिलमिल, शाहदरा, दिल्ली

घोषणापत्र का प्रपत्र :

प्रपत्र 4 (नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	द्वैमासिक
पत्र का ख़ुदरा बिक्री मूल्य	दस रुपये
प्रकाशक का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094
प्रकाशन का स्थान	करावल नगर, दिल्ली
मुद्रक का नाम	अभिनव सिन्हा
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094
मुद्रणालय का नाम	रुचिका प्रिण्टर्स, 1/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
सम्पादक का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094
स्वामी का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं अभिनव सिन्हा, यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर

(अभिनव सिन्हा)

प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

"आह्वान" सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये "आह्वान" सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। आपको मालूम हो कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में "आह्वान" अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप –

1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर सहयोग कर सकते हैं।
2. अपने मित्रों को "आह्वान" की सदस्यता दिलवायें।
3. "आह्वान" के मद में आर्थिक सहयोग भेजें। और "आह्वान" के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र प्रेषित कराने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि निम्नलिखित खाता नं. में भी प्रेषित कर सकते हैं। यह ज़रूरी है कि आर्थिक सहयोग भेजते समय हमें सूचित अवश्य कर दें।

प्रति – मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान
बैंक ऑफ़ बड़ौदा
खाता नं. – 21360100010629
साभिवादन सम्पादक

पश्चिम बंगाल : भारतीय वामपन्थ का संकट या संशोधनवादी सामाजिक फ़ासीवाद से खुले प्रतिक्रियावादी पूँजीवाद की ओर संक्रमण?

पश्चिम बंगाल में बीते विधानसभा में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)-नीत वाम मोर्चे की करारी हार के बाद जो दृश्य उपस्थित हुआ वह संशोधनवादी वामपन्थ (यानी, नाम में मार्क्सवादी, काम में पूँजीवादी) के पतन पर हमेशा ही उपस्थित होता है। पूरा मीडिया इसे वामपन्थ/मार्क्सवाद/कम्युनिज़्म के पतन की संज्ञा दे रहा था; खुले तौर पर पूँजीवादी (लोकतान्त्रिक!) अन्य पार्टियाँ भी यही गाना गा रही थीं। कुल मिलाकर, देश के पूँजीपति वर्ग की अगुवाई करने वालों ने हमेशा की तरह इस अवसर का पूरा लाभ उठाने की कोशिश की। 1989 में बर्लिन की दीवार गिरने, 1990 में सोवियत संघ के पतन और 1976 के बाद चीन में "बाज़ार समाजवाद" का जुमला उछलने के बाद विश्व-भर के पूँजीवादी मीडिया ने भी यही उन्मादी शोर मचाया था कि यह मार्क्सवाद की पराजय है। यह बेहद नैसर्गिक है कि पूँजीवादी मीडिया ऐसा करे।

लेकिन आज इस प्रचार का वैसा असर नहीं होने वाला था और न ही हुआ, जैसा कि 1989, 1990 और 1976 में हुआ था। तब से संशोधनवादियों ने तमाम ऐसे कारनामे किये हैं, जिससे कि उनका असली चरित्र साफ़ होने लगा है; इसके अतिरिक्त, दुनिया का माहौल भी दो अहम रूपों में काफ़ी बदला है। यह 1980 के पूरे दशक जैसा दौर नहीं है जब नामधारी समाजवादी सत्ताओं के पतन से पूरे विश्व के मज़दूर आन्दोलन में अपने इतिहास को लेकर एक संशयवादी, निराशावादी और अज्ञेयवादी माहौल पैदा हो गया था। 1990 के दशक की शुरुआत से लेकर आज तक के दौर में पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के गहराते संकट ने एक बात आम लोगों के सामूहिक अचेतन में बिठा दी है : यह इतिहास और विश्व का अन्त नहीं हो सकता! ऐसी नरभक्षी, मानवद्रोही और विनाशकारी व्यवस्था मानवता का अन्त नहीं हो सकती है! दूसरी बात, साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के गहराते संकटों ने दुनिया-भर में जनता के रैडिकल आन्दोलनों को जन्म दिया है। पूरी दुनिया में 'मार्क्स की वापसी', 'कम्युनिज़्म के पुनर्जन्म' आदि की ख़ूब बातें हो रही हैं। निश्चित रूप से, इसका अर्थ यह नहीं है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन तत्काल कोई उभार देखने जा रहा है। अधिकांश देशों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन अन्दरूनी तौर पर दो विपरीत छोरों के भटकावों का शिकार है : एक छोर है, कठमुल्लावादी तरीक़े से पुराने फ़ार्मूलों से चिपके रहने और लकीर की फकीरी करने का; और दूसरा छोर है, धुरी-विहीन नववामपन्थी "मुक्त चिन्तन" का। जब तक इन दोनों विजातीय रुझानों से कम्युनिस्ट आन्दोलन मुक्ति नहीं पाता, तब तक मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का सही तरीक़े से क्रान्तिकारी अगुवाई करने की स्थिति में वह नहीं आ सकता है और तब तक मज़दूर वर्ग का वर्ग-सचेत, लक्ष्य-सचेत और राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर संगठित आन्दोलन खड़ा हो पाना मुश्किल नज़र आ रहा है। निश्चित तौर पर, स्वत:स्फूर्त उभारों में मज़दूर प्रमुख तौर पर हिस्सेदारी करेंगे और तमाम देशों में ऐसा हो भी रहा

है। लेकिन यह अपने आप किसी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को जन्म नहीं देने वाला है। इन गम्भीर चुनौतियों के चलते एकदम तुरन्त कम्युनिस्ट आन्दोलन में कोई ज़बरदस्त उभार दिखने की सम्भावना कम ही है।

लेकिन यह कम्युनिस्ट आन्दोलन के अन्दरूनी संकट हैं। और ये किसी भी रूप में पूँजीवादी व्यवस्था की अच्छी सेहत का लक्षण नहीं हैं। यह एक अलग यथार्थ है। आज विश्व पूँजीवाद पिछले 80 वर्षों की सबसे बड़ी मन्दी देख रहा है। वहीं जनता के स्वत:स्फूर्त आन्दोलन भी तमाम देशों में फूट रहे हैं। यूरोप में, लातिनी अमेरिका में, एशिया और अफ़्रीका में; हर जगह पूँजीवाद के गहराते संकट ने सामाजिक जनवादियों और संशोधनवादियों को काफ़ी हद तक बेनक़ाब किया है।

इन्हीं कारणों से आज पूँजीवादी मीडिया संशोधनवादी संसदीय वामपन्थ के पतन को अपनी लाख कोशिशों के बावजूद मार्क्सवाद की पराजय के रूप में चित्रित नहीं कर पा रहा है। हाँ, कुछ अशिक्षित साक्षरों ने (जो अज्ञानवश ऐसा करते हैं) जिसमें विशेष रूप से कुछ लोहियावादी समाजवादी शामिल हैं, तमाम अख़बारों के सम्पादकीय पृष्ठों को 'मार्क्सवाद की असफलता', 'स्तालिनवाद की पराजय', आदि जैसे जुमलों से रंग डाला। इन अशिक्षित साक्षरों के अलावा कुछ चतुर सुजान मार्क्सवाद-विरोधियों ने भी यही काम किया, जैसे कि सुधीश पचौरी जैसे धुरी-विहीन या सतत-परिवर्तनशील धुरियों वाले (इन्हें उत्तरआधुनिकतावादी कहना भी अतिशयोक्ति होगी, क्योंकि इनके लेखन को पढ़कर साफ़ तौर पर लगता है कि देरीदा, स्पिवाक, फूको, आदि जैसे उत्तरआधुनिक दार्शनिकों की किताबों की भी इन्होंने बस समीक्षा ही पढ़ी है!) बुद्धिजीवी! इसके अलावा, जिन लोगों ने पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे की पराजय को 'लेनिनवादी/स्तालिनवादी' मार्क्सवाद की पराजय का नाम दिया उनमें देश के तमाम ऐसे नववामपन्थी बुद्धिजीवी हैं, जो बीसवीं सदी के समाजवाद के प्रयोगों के बारे में माफ़ी माँगने के लिए पूँजीपतियों के सामने करबद्ध खड़े हैं; ये उत्तरमार्क्सवाद और नवमार्क्सवाद से प्रभावित बुद्धिजीवियों का एक गिरोह है जो मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में कहीं भी नहीं हैं; इनमें आदित्य निगम, जैरस बनजी, आदि जैसे तमाम नववामपन्थी, पार्टी-विरोधी मार्क्सीय बुद्धिजीवी शामिल हैं, जो एलेन बेदियू, एण्टोनियो हार्ट और माईकेल नेग्री, लाक्लाऊ और माउफ जैसे उत्तरमार्क्सवादियों की पूँछ पकड़कर विचारधारा का ककहरा पढ़ रहे हैं। इनका अच्छा-ख़ासा प्रभाव मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन के बीच भी है। स्वयं पश्चिम बंगाल में अधिकांश मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारियों पर इनके ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद का गहरा असर है। पश्चिम बंगाल में संसदीय वामपन्थ की पराजय का कारण ये पार्टी-सिद्धान्त में और लेनिन और स्तालिन द्वारा मार्क्सवाद में पैदा की गयी "विकृति" को मानते हैं, जिसका अर्थ है हिरावल पार्टी का लेनिनवादी सिद्धान्त, जो अनिवार्य रूप से तथाकथित स्तालिनवादी अतियों में परिणामित होता है। इनका हमला वास्तव में माकपा के सामाजिक फ़ासीवादी चरित्र के बहाने मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों और उसूलों पर है। कोई भी व्यक्ति जो मार्क्सवाद की बुनियादी रचनाओं का भी अध्ययन कर चुका हो, वह इन नववामपन्थी गिरोहों के असली चरित्र को समझ सकता है, जिसके किसी सदस्य का मज़दूर वर्ग के आन्दोलन से न तो कोई लेना-देना है, और न ही उनके जीवन की आम जनता के जीवन से कोई भी नज़दीकी है। इनमें से कुछ विदेशों के विश्वविद्यालयों में पढ़ा रहे हैं और मार्क्सवाद को विकृत करने की कमाई खा रहे हैं; कुछ त्रात्स्कीपन्थी हैं जिन्हें किसी एक देश में भी क्रान्ति नहीं करनी है, इसलिए वे "विश्व क्रान्ति" की बात करते हैं; कुछ बेदियू, नेग्री, हार्ट, लाक्लाऊ, माउफ के अनुयायी हैं, तो दूसरे ज़िज़ेक जैसे रहस्यवादी-पॉप मार्क्सवादी के जो आज मार्क्सवाद की ऐसी हिफ़ाज़त कर रहे हैं कि उसे पूँजीवाद से किसी हमले की ज़रूरत ही नहीं रही! इन सभी में एक बात साझा है : ये सभी कुलीन वर्ग से आने वाले, कुलीन जीवन जीने वाले, मज़दूर वर्ग से मीलों दूर बसे *पैसिव रैडिकल* बुद्धिजीवी हैं। इनके खण्डन पर हम बहुत स्याही नहीं ख़र्च करेंगे।

●

अब मूल सवालों पर आते हैं। पश्चिम बंगाल में जिस चीज़ की हार हुई वह क्या है? तृणमूल कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबन्धन की ज़बरदस्त चुनावी जीत के पीछे कौन से कारक काम कर रहे थे? क्या यह भारत में संसदीय वामपन्थ का अन्त है? इन सवालों के जवाब की प्रक्रिया में ही कई अहम चीज़ें साफ़ हो जायेंगी।

पहली बात तो यह है कि माकपा को उतना ही मार्क्सवादी कहा जा सकता है, जितना आज के चीन को समाजवादी। पश्चिम बंगाल में 34 वर्ष के अपने शासन के दौरान संसदीय वामपन्थियों ने अनगिनत बार अपने मार्क्सवादी/कम्युनिस्ट न होने को पुष्ट किया। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) पैदा ही संशोधनवाद में हुई थी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी तेलंगाना की पराजय के बाद अपने आपको पूरी तरह खुली संसदीय पार्टी के रूप में स्थापित कर चुकी थी। ये दोनों ही पार्टियाँ भारतीय राजनीति में संशोधनवाद के दो अलग शेड्स का प्रतिनिधित्व करती हैं, हालाँकि अब इनके बीच का फ़र्क़ इतना नगण्य हो चुका है कि इनके एकीकरण की चर्चाएँ शुरू हो चुकी हैं। इन पार्टियों का इंक़लाब से कोई रिश्ता नहीं रहा है, यह इनके घोषणापत्र, संविधान, व्यवहार और ढाँचे को देखकर स्पष्ट हो जाता है। मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षाओं में एक यह है कि क्रान्ति का प्रश्न राजसत्ता का प्रश्न है और कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ राजसत्ता पर चुनाव के रास्ते क़ब्ज़ा करके क्रान्ति नहीं कर सकती, बल्कि उसे चकनाचूर करके और उसकी जगह सर्वहारा राजसत्ता को स्थापित करके ही क्रान्ति कर सकती है। यह कोई आकाशवाणी जैसी बात नहीं है, बल्कि यह सूत्रीकरण इतिहास की शिक्षाओं से ही निकलकर आया था, और बाद में भी इतिहास ने इसे सही साबित किया। हम सभी चिली में अलेन्दे की सरकार की नियति से वाकिफ़

हैं, जो दिखलाती है कि अगर बुर्जुआ राजसत्ता को चकनाचूर किये बिना चुनाव के रास्ते कोई ईमानदार समाजवादी सत्ता में आ भी गया, तो समाजवादी नीतियों की शुरुआत करते ही वह राजसत्ता के ही कार्यकारी निकायों द्वारा उखाड़ फेंका जायेगा। ख़ैर, अलेन्दे तो कम-से-कम ईमानदार था, और इतिहास की शिक्षा सही तरीक़े से ग्रहण न करने की क़ीमत उसे अपनी शहादत से देनी पड़ी; माकपा और भाकपा की ईमानदारी के बारे में बात करके पाठकों को 'कॉमिक रिलीफ़' देने का हमारा कोई इरादा नहीं है। स्पष्ट है, कि मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों में प्रतिक्रियावादी संशोधन करके पूँजीवाद की सेवा करने वाली माकपा और भाकपा के लिए 'मार्क्सवादी' विशेषण का उपयोग करना एकदम हास्यास्पद होगा। बोल्शेविक पार्टी के उसूलों से इन संशोधनवादी पार्टियों को कोई लेना-देना नहीं है, क्योंकि बोल्शेविक होने की उन्हें कोई ज़रूरत ही नहीं है। बोल्शेविक होने की ज़रूरत उसे ही होगी, जिसे वाक़ई इंक़लाब करना होगा। अपने 34 वर्ष के शासन में वाम मोर्चे ने अपने जनविरोधी चरित्र को बार-बार साफ़ किया है। यहाँ तक कि सत्ता में आने से पहले ही कांग्रेस के साथ गठबन्धन सरकार में रहते समय नक्सलबाड़ी के जनउभार को कुचलने के लिए माकपा ने जो-जो काम किये, उसे कौन भूल सकता है? इसलिए, इनके क्रान्तिकारी होने या न होने के बारे में कोई लम्बा विश्लेषण करके हम पाठकों में ऊब नहीं पैदा करना चाहते हैं।

दूसरा अहम सवाल है कि तृणमूल-नीत गठबन्धन की एकतरफ़ा जीत के पीछे कौन-से कारक काम कर रहे थे? सबसे पहली बात जो यहाँ हमें समझने की ज़रूरत है वह यह है कि पश्चिम बंगाल में चुनावों में मतदाताओं का फ़ैसला एक प्रतिक्रिया थी। ऐसा नहीं है कि तृणमूल कांग्रेस-नीत गठबन्धन को एक कारगर विकल्प मानकर उसके पक्ष में वोटिंग हुई हो। ममता बनर्जी ने पहले ही साफ़ कर दिया था कि वह "विकास" के लिए किये जाने वाले भूमि अधिग्रहण की विरोधी नहीं हैं। लेकिन वे भूमि अधिग्रहण या औद्योगिकीकरण के लिए ज़मीन के लेन-देन में सरकार की संस्थागत भूमिका के ख़िलाफ़ हैं। यानी, अब भूमि के अधिग्रहण का काम किसानों और निजी पूँजी के बीच मुक्त रूप से होगा। कुल मिलाकर फ़र्क़ पूँजीवादी विकास के पैटर्न में आना है। ऐसा नहीं है कि ममता बनर्जी पूँजीवाद का कोई विकल्प पेश कर रही हैं, जैसा कि माकपा से प्रतिक्रिया में आये कुछ नववामपन्थी बुद्धिजीवी कह रहे हैं। आपको ऐसे तमाम नववाम बुद्धिजीवी पश्चिम बंगाल में मिल जायेंगे जो कहते हैं कि "इन (यानी माकपा के) मार्क्सवादियों से ज़्यादा मार्क्सवादी तो ममता बनर्जी है!" रोज़मर्रा बोले जाने वाले तमाम जुमलों में से एक होने पर तो यह जुमला ठीक है, लेकिन वैचारिक सटीकता के लिहाज़ से इसका कोई मतलब नहीं है। सच बात यह है कि जनता के पास कोई विकल्प था ही नहीं! ऐसे में, झूठे विकल्पों में से, यानी वे विकल्प जो विकल्प होने का दावा करते हैं, किसी एक को चुनना था। पिछले 34 वर्षों में संशोधनवादियों ने जो सामाजिक फ़ासीवादी गुण्डा राज पश्चिम बंगाल में चलाया, उसकी प्रतिक्रिया में जनता ने खुले प्रतिक्रियावादी पूँजीवाद को चुन लिया। यह सज़ा देने का एक उपक्रम था, जिसमें वास्तव में लम्बी दूरी में सज़ा जनता को ही मिलनी है, क्योंकि वास्तविक विकल्पों का कोई समुच्चय चुनावी व्यवस्था के भीतर उसके पास है ही नहीं। वास्तविक विकल्प पूँजीवादी जनवाद के दायरे के बाहर मौजूद है, लेकिन उस विकल्प के प्रति जनता को राजनीतिक तौर पर सचेत, गोलबन्द और संगठित करने वाली कोई अगुवा ताक़त आज मौजूद नहीं है।

तृणमूल कांग्रेस को कुछ निश्चित असन्तुष्ट तबक़ों के वोट हासिल हुए। इसमें नन्दीग्राम-सिंगूर के दमित-उत्पीड़ित किसान, जंगलमहल की उत्पीड़ित जनजातीय आबादी, दार्जीलिंग के गोरखा, दूआर के कोची-राजबोंशी, और बेरोज़गार मज़दूरों, बेदख़ल किसानों, उजड़े भूमिहीनों की वह विशाल आबादी है जो सामाजिक फ़ासीवादी वाम मोर्चे की विकास की नीति के परिणामस्वरूप पैदा हुई है। इन सभी तबक़ों का ढीला-ढाला गठबन्धन ही तृणमूल कांग्रेस के उभार का सामाजिक आधार है। यह गठबन्धन भी बेहद कमज़ोर और विचित्र है। इन सभी तबक़ों के बीच तमाम अन्तरविरोध मौजूद हैं। इस गठबन्धन का लम्बे समय तक चलना तृणमूल कांग्रेस के लिए बेहद ज़रूरी है। इसके लिए तृणमूल कांग्रेस-नीत गठबन्धन की सरकार इन तबक़ों के हितों में अवसरवादी तरीक़े से तालमेल करते हुए चलने की कोशिश करेगी। निश्चित तौर पर, इस पूरी प्रक्रिया में इन तबक़ों के शासक वर्गों का ध्यान रखा जायेगा। जहाँ तक ग़रीब किसानों, बेरोज़गार मज़दूरों और भूमिहीन मज़दूरों का प्रश्न है, वे या तो जल्दी ही समझ जायेंगे या पहले से ही समझते हैं कि तृणमूल कांग्रेस-नीत गठबन्धन की सरकार उनके हितों के लिए कुछ भी नहीं करने वाली है। वास्तव में उनका वोट (माकपा के लिए) *पनिशमेण्ट वोट* था, (तृणमूल के लिए) *रिवॉर्ड वोट* नहीं।

कोई क्रान्तिकारी ताक़त भी संशोधनवादी सामाजिक फ़ासीवाद के शासन से असन्तुष्ट तबक़ों की माँगों को अपने एजेण्डे में अधिकतम सम्भव समायोजित करने की कोशिश करती। लेकिन ऐसा करते हुए उसका प्रमुख ज़ोर इन तबक़ों में सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से राजनीतिक प्रचार और आन्दोलन पर होता। लेकिन कोई भी शक्ति इस समय इस काम को कारगर तरीक़े से अंजाम नहीं दे पा रही है। ऐसे में प्रतिक्रियावादी ताक़तें पहचान की राजनीति और अवसरवादी पूँजीवादी राजनीतिक प्रबन्धन कर इन असमान और वैविध्यपूर्ण पहचानों के बीच धन (+) का चिह्न लगाकर इनके पूँजीवादी गठबन्धन का इस्तेमाल करेंगी। यह कालान्तर में इन पहचानों के भीतर वर्ग अन्तरविरोधों को और तीखा बनायेगा। लेकिन यह भविष्य की बात है।

दूसरा कारक जिसने तृणमूल कांग्रेस को भारी फ़ायदा पहुँचाया वह था कांग्रेस और सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर ऑफ़

इण्डिया के साथ उसका गठजोड़। जिन क्षेत्रों में तृणमूल कांग्रेस का गहरा आधार नहीं था वहाँ एस.यू.सी.आई. के आधार ने उसे काफ़ी मदद पहुँचायी। इस गठबन्धन ने एस.यू.सी.आई. के चरित्र को एक बार फिर साफ़ किया है। यह गठबन्धन एस.यू.सी.आई. ने किसी अज्ञानतावश नहीं किया है। बल्कि ऐसे अवसरवादी गठबन्धन संशोधनवादी चुनावी राजनीति का एक अभिन्न अंग होते हैं। नन्दीग्राम और सिंगूर में किसानों के आन्दोलन में तृणमूल कांग्रेस की भूमिका और माकपा-नीत सामाजिक फ़ासीवादी गठबन्धन को सत्ता से बाहर करना एस.यू.सी.आई. के लिए प्रमुख कारण थे, जिनके चलते ममता बनर्जी का एस.यू.सी.आई. ने साथ दिया। स्पष्टत: यह एक नकारात्मक नीति थी। और यह लाज़िमी था कि यह नीति अपनायी जाती क्योंकि एस.यू.सी.आई. भी संशोधनवाद की ही एक दूसरी प्रजाति है।

• तीसरा अहम सवाल जो इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष है कि इस गठबन्धन की जीत के बाद आगे किस प्रकार की सत्ता पश्चिम बंगाल में हमें देखने को मिलेगी। इसका जवाब साफ़ है। इस गठबन्धन की विजय के फलस्वरूप हम राज्य की चुनावी राजनीति में एक संक्रमण देखेंगे : **संशोधनवादी सामाजिक फ़ासीवाद से खुले पूँजीवादी प्रतिक्रियावाद की तरफ़।** इस राजनीति के तहत उपरोक्त उल्लिखित तबक़ों के पूँजीपति और टुटपुँजिया वर्गों द्वारा मज़दूर वर्ग के हितों पर प्रभुत्व स्थापित किया जायेगा और इन तबक़ों के प्रभुत्वशाली वर्गों के हितों के बीच राज्य सरकार एक तालमेल स्थापित करने के प्रयास में लगी रहेगी। इस सरकार में कुछ भी जनपक्षधर या मज़दूर-समर्थक नहीं है, और न ही किसान समर्थक। किसानों की ज़मीनों को हड़पने, सर्वहाराकरण और दरिद्रीकरण की प्रक्रिया जारी रहेगी। बस फ़र्क़ इतना आयेगा कि इस पूरी प्रक्रिया में राज्य की भूमिका प्रत्यक्ष हस्तक्षेपकारी की बजाय सहायक (फ़ैसिलिटेटर) की हो जायेगी। जहाँ तक राज्य में भाकपा (माओवादी) के दमन का प्रश्न है, उसमें तात्कालिक तौर पर कुछ फ़र्क़ आ सकता है लेकिन लम्बी दूरी में राज्य सरकार उनके दमन की वही नीति अपनायेगी जो पूरे देश में अन्य राज्यों में अपनायी जा रही है। इसके अलावा ममता बनर्जी की सरकार और कुछ कर भी नहीं सकती है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि ममता बनर्जी उसी सिद्धार्थ शंकर रे की चहेती थी जिसे नक्सलबाड़ी उभार के दौर में पश्चिम बंगाल के क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं के कसाई की संज्ञा दी गयी थी। मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन के बिखरते शिविर के तमाम घटकों का यह भ्रम जल्दी ही दूर हो जायेगा कि ममता बनर्जी भाकपा (माओवादी) के प्रति कोई सहानुभूति भरी नीति अपनाने वाली है।

कुल मिलाकर, ममता बनर्जी की सरकार औद्योगिक पूँजी, धनी किसानों, और खाते-पीते मध्यवर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व एक दूसरी तरह से करेगी, जो मज़दूर वर्ग, ग़रीब और निम्न-मध्यम किसानों और शहरी निम्न मध्यम वर्ग के हितों को इनके अधीन करते हुए उन्हें तबाही की ओर धकेलना जारी रखेगी।

पश्चिम बंगाल में संशोधनवादी माकपा के उदय के पीछे ऐतिहासिक तौर पर कुछ निश्चित कारण काम कर रहे थे। वास्तव में, यही कारण अपने विपरीत में तब्दील हो गये हैं। ऑपरेशन बरगा के ज़रिये माकपा ने भूमि सुधार करते हुए छोटे खुदकाश्त किसानों के एक पूरे वर्ग को जन्म दिया था। यही वर्ग ऐतिहासिक तौर पर पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे का सामाजिक आधार रहा है। सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के अवशेषों की भारी मौजूदगी और पूँजीवादी विकास के अभाव के दौरान ये भूमि सुधार अपने सन्तृप्ति बिन्दु पर नहीं पहुँच सकते थे। लेकिन देश भर में और पश्चिम बंगाल में नयी आर्थिक नीतियों की शुरुआत और सार्वजनिक क्षेत्र के राज्य पूँजीवाद को तिलांजलि दिये जाने के बाद छोटी किसानी की व्यवस्था का लम्बे समय तक जारी रह पाना मुश्किल था। छोटे पैमाने का किसानी उत्पादन स्वत: पूँजी के प्रवेश और पूँजीवादी विकास में बाधाएँ पैदा करता है। संशोधनवादी माकपा-नीत वाम मोर्चा पश्चिम बंगाल में अलग से कोई समाजवादी विकास न तो कर ही सकता था और न ही ऐसा इरादा रखता था। उसे अपनी शैली में पूँजीवादी विकास के पथ पर ही चलना था। और पूँजीवादी विकास के किसी भी मॉडल के दायरे के भीतर छोटी किसानी के ऐसे व्यापक ढाँचे को देर-सबेर तबाह होना ही था। राज्य में पूँजीवादी औद्योगिकीकरण के तेज़ी से शुरू होने के बाद बड़े पैमाने पर किसानों के उजड़ने, भूमि अधिग्रहण और भूमि के संकेन्द्रीकरण की शुरुआत हुई। नन्दीग्राम और सिंगूर में जो कुछ हुआ वह इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ। लालगढ़ में भी जो हुआ वह इसी पूँजीवादी संचय की प्रक्रिया का एक हिस्सा था।

वाम मोर्चे के लिए संकट यह था कि वामपन्थी जुमलों के साथ इस प्रक्रिया को चला पाना उनके लिए सम्भव नहीं था। यही कारण है कि पिछले दो दशकों के दौरान, ज्योति बसु के समय से ही वाम मोर्चा अपने को बेनक़ाब होने से बचाने के लिए वाम के जुमलों का जो कुशलतापूर्ण उपयोग करता था, वह समय बीतने के साथ लगातार असम्भव होता गया। वाम मोर्चे के लिए पूँजीवादी विकास को धड़ल्ले से आगे बढ़ाने की राह काफ़ी कठिन थी। यह काम किसी कांग्रेस या भाजपा की सरकार के लिए मुश्किल नहीं होता, क्योंकि उनके जुमले ही अलग हैं। लेकिन संशोधनवादियों को कम-से-कम संशोधनवादी रहने के लिए कुछ जुमलों का ख़र्च उठाना पड़ता है। अब वह ख़र्च काफ़ी बढ़ गया था और वाम मोर्चे के बजट को लाँघ गया था। ऐसा करने के लिए वाम मोर्चे को अपना चरित्र और ज़्यादा नग्न तौर पर सामाजिक फ़ासीवादी, ग़ैर-जनवादी और सर्वसत्तावादी बनाना ज़रूरी था और पिछले दो दशकों में यही हुआ है। अगर आप ज्योति बसु के 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध के बयानों और बुद्धदेव भट्टाचार्य के शुरू से लेकर अन्त तक के बयानों को देखें तो वे खुले तौर पर मज़दूर-विरोधी, कारपोरेट पूँजी के

(पेज 26 पर जारी)

विशेष लेख

अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और मौजूदा व्यवस्था से जुड़े कुछ अहम सवाल

(दूसरी किश्त)

• अभिनव सिन्हा

अब तक हमने अण्णा हज़ारे के भ्रष्टाचार-विरोधी धर्म-युद्ध के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया। हमने अण्णा हज़ारे मण्डली के जनलोकपाल बिल के मसौदे का आलोचनात्मक विवेचन किया; अण्णा हज़ारे के अभियान के पक्ष में जो आबादी सड़कों पर उतरी हमने उसका भी विश्लेषण करते हुए इसके सामाजिक आधार को स्पष्ट किया; हमने भ्रष्टाचार की एक सटीक परिभाषा पर विचार करते हुए स्पष्ट किया कि वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप में ही एक भ्रष्टाचार है, तब भी, जब वह अपने बनाये सभी नियमों का पालन करे; और हमने यह भी स्पष्ट किया कि कोई भी पूँजीवादी व्यवस्था लूट के अपने बनाये नियमों का भी सम्मान नहीं करती है क्योंकि पूँजी का तर्क किसी भी नियम समुच्चय की सीमाओं का अनिवार्य रूप में अतिक्रमण करता है; साथ ही, हमने 'सिविल सोसायटी' की 'सिविलिटी' की भी पोल खोली और इस अवधारणा के निहितार्थों को स्पष्ट करते हुए इसके बुर्जुआ चरित्र को साफ़ किया।

अब हम अण्णा हज़ारे की विचारधारा और राजनीति के विश्लेषण की ओर बढ़ सकते हैं। यह विश्लेषण किये बग़ैर वास्तव में अभी तक किया गया विश्लेषण भी अधूरा होगा। हमने अण्णा के भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और जनलोकपाल बिल के अलग-अलग पहलुओं की चर्चा की और साथ ही इसके सामाजिक आधार का विवेचन किया। लेकिन अण्णा हज़ारे का अभियान वैसा क्यों है जैसा कि वह है, यह समझने के लिए निगमनात्मक विश्लेषण पर्याप्त नहीं होगा और हमें सकारात्मक तौर पर अण्णा हज़ारे की पूरी सोच का आगमनात्मक विश्लेषण करना होगा। अण्णा की विचारधारा और राजनीति के विश्लेषण से उन सभी अलग-अलग विश्लेषणों के बीच के तार ख़ुद-ब-ख़ुद जुड़ जायेंगे जो हमने अभी तक किये हैं। इसलिए अब जो अहम सवाल हमारे सामने है, वह यह है कि अण्णा का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान ऐसा क्यों है जैसा कि वह है?

इस सवाल का जवाब हमें अण्णा हज़ारे के इतिहास, राजनीति और विचारधारा के विश्लेषण में मिलेगा।

जीवन और इतिहास

अण्णा हज़ारे का जन्म 1937 में भिंगार नामक एक छोटे-से गाँव में हुआ, जो कि अहमदनगर ज़िला में था। 1952 में अण्णा हज़ारे के पिता ने भिंगार में अपनी नौकरी छोड़ अपने पैतृक गाँव रालेगण सिद्धी में लौटने का फ़ैसला किया। अण्णा हज़ारे के छह भाई-बहन थे और परिवार की स्थिति बहुत ख़राब थी। उनकी एक रिश्तेदार ने उन्हें गोद लेने का प्रस्ताव रखा और वे अण्णा हज़ारे को मुम्बई ले आयीं। वहाँ अण्णा हज़ारे ने सातवीं कक्षा तक पढ़ाई की और फिर दादर में फूल बेचने का धन्धा शुरू किया। 1962 में भारत-चीन युद्ध शुरू हुआ और बड़े पैमाने पर सेना में भर्ती शुरू हुई। शारीरिक परीक्षा में असफल होने के बावजूद अण्णा हज़ारे को सेना ने भर्ती कर लिया और उसमें ट्रक चालक की नौकरी मिली। 1965 में अण्णा हज़ारे की तैनाती खेम-करन सेक्टर में हुई। उसी वर्ष पाकिस्तान ने भारतीय सैन्य अड्डों पर हवाई हमला शुरू कर दिया। अण्णा हज़ारे के अड्डे पर भी हमला हुआ और अण्णा को छोड़कर बाक़ी सभी सैनिक मारे गये। स्वयं अण्णा की जान भी मुश्किल से बची थी और एक गोली उनके सिर के बिल्कुल क़रीब से गयी थी। इसका अण्णा के दिलो-दिमाग़ पर काफ़ी गहरा असर पड़ा था। इस घटना ने पाकिस्तान के ख़िलाफ़ अण्णा के मन में नफ़रत पैदा करने का काम किया।

लेकिन इस घटना के बाद ही अण्णा हज़ारे जीवन-मृत्यु के बारे में दार्शनिक-आध्यात्मिक चिन्तन-मनन भी करने लगे। उन्होंने घर वापस लौटते समय विवेकानन्द की राष्ट्र-निर्माण के लिए युवाओं को आह्वान करने वाली एक पुस्तिका पढ़ी। इसमें अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ने के लिए विवेकानन्द ने युवाओं में चरित्र-निर्माण आदि की बात करते हुए आध्यात्मिकता और भौतिकता के वेदान्ती मिश्रण को पेश किया है। इस पुस्तिका का अण्णा पर ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा। इसके बाद, 1970 के दशक के मध्य में भी एक दुर्घटना में वे मरते-मरते बचे। इसके बाद उन्होंने मानवता की सेवा करने का प्रण लिया। इस बीच

वह बिनोबा भावे, गाँधी और विवेकानन्द का अध्ययन करते रहे थे। 1975 में, जैसे ही वे पेंशन के योग्य हुए उन्होंने स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली।

इसके बाद ही रालेगण सिद्धी में उनका वह कार्य शुरू हुआ जिसके लिए वह पूरे देश और दुनिया भर में प्रसिद्ध हुए। रालेगण सिद्धी एक ऐसा गाँव था जहाँ भयानक भूख और ग़रीबी, सूखा, उपेक्षा और तबाह होती पारिस्थितिकी मौजूद थी। यहाँ पर अण्णा हज़ारे ने अपना काम शुरू किया और शराबखोरी रोकने से लेकर, वर्षा जल संचय, पर्यावरण-अनुकूल खेती, पशुपालन, शिक्षा आदि का विकास किया। निश्चित रूप से, यह काम प्रशंसनीय है। रालेगण सिद्धी अण्णा हज़ारे के पर्यावरणीय कार्यों और आर्थिक उपायों के चलते भूख, अकाल, सूखा आदि से काफ़ी हद तक उबर गया। अण्णा हज़ारे के आमरण अनशन के कारण रालेगण सिद्धी में महाराष्ट्र सरकार को निरन्तर बिजली की व्यवस्था करनी पड़ी। अण्णा हज़ारे ने गाँव के विकास के लिए वे तमाम कार्य किये जो कोई भी जनपक्षधर क्रान्तिकारी ताक़त करती और निश्चित तौर पर यह सराहनीय काम था, लेकिन आम तौर पर बात यहीं ख़त्म हो जाती है। जबकि बात को यहाँ से शुरू होना चाहिए।

इन सभी पर्यावरणीय और आर्थिक उन्नयन के कार्यों के साथ रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे ने राजनीतिक और सामाजिक प्राधिकार, सामाजिक संरचना, दलितों और महिलाओं के सामाजिक सुधार, आदि के क्षेत्र में जो मॉडल लागू किया वह एक धार्मिक पुनरुत्थानवादी, अन्धराष्ट्रवादी, जातिगत श्रेष्ठताबोध-ग्रस्त, जेण्डर श्रेष्ठताबोध-ग्रस्त और पश्चगामी मॉडल है। अगर हम अण्णा हज़ारे के रालेगण सिद्धी के प्रयोग में इस्तेमाल होने वाले तमाम प्रतीकों, चिह्नों और रूपकों का अध्ययन करें तो हम पायेंगे कि यह "राष्ट्र-निर्माण" का वही हिन्दू पुनरुत्थानवादी मॉडल है जिसके पुरोधा बंकिम चन्द्र थे और जिन्होंने अपनी रचना 'आनन्दमठ' में 18वीं शताब्दी के संन्यासी विद्रोह के चित्रण के ज़रिये हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद की नींव डाली थी; या, यह कमोबेश वैसा ही हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद है जिसकी नुमाइन्दगी महाराष्ट्र में तिलक करते थे। लेकिन इसकी सामाजिक और राजनीतिक भूमिका में एक गहरा अन्तर आ चुका है। औपनिवेशिक गुलामी के दौर में धार्मिक पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद की भी एक सकारात्मक भूमिका थी, क्योंकि उस ऐतिहासिक युग के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अन्तरविरोध भिन्न थे। यह बात न सिर्फ़ हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद के बारे में सच थी, बल्कि इस्लामिक पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद के लिए भी सही थी। कम ही लोग जानते हैं कि संन्यासी विद्रोह के दौरान ही मुसलमान फकीरों की भी बग़ावत चल रही थी। लेकिन इतिहास में इसका ज़िक्र कम ही जगह मिलता है। लुब्बेलुबाब यह कि विदेशी शक्ति द्वारा औपनिवेशीकरण के विरुद्ध राष्ट्रवाद के तमाम वैचारिक स्रोतों में से अधिकांश की कलात्मक स्थिति अतीत में होती है। इसके कुछ निश्चित ऐतिहासिक कारण होते हैं, जिन पर यहाँ विस्तार से चर्चा सम्भव नहीं है। कुल मिलाकर अभी इतना कहना काफ़ी होगा कि उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद के शक्ति ग्रहण करने के स्रोतों में से अधिकांश अतीत में अवस्थित होते हैं, चाहे वह कितना भी आधुनिक राष्ट्रवाद क्यों न हो।

दूसरी बात यह कि उस समय का हिन्दू पुनरुत्थानवाद उदार धार्मिक सुधारवाद से प्रभावित था और सम्मिलनकारी प्रजाति का था; आज का हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद वास्तव में प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी ही हो सकता है। यह बहिष्कारवादी है और इसके भीतर फ़ासीवाद की ओर एक नैसर्गिक रुझान है, चाहे वह कितनी भी उदार प्रजाति का धार्मिक पुनरुत्थानवाद क्यों न हो। ठीक उसी प्रकार जैसे कि 16वीं सदी के यूरोपीय धार्मिक सुधारवाद को अगर 21वीं सदी में अवस्थित कर दिया जाये, तो वह एक प्रतिक्रियावादी शक्ति बन जायेगी। किसी भी धार्मिक विचारधारा या पन्थवाद की भूमिका का गुण उसके ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भ से ही निर्धारित होता है। आज के भारत में इस हिन्दू पुनरुत्थानवाद और अन्धराष्ट्रवाद के कई शेड्स काम कर रहे हैं, जिनके आत्मगत और वस्तुगत प्रतिक्रियावाद की मात्रा, गुण और स्तर अलग-अलग हैं। हमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की हिन्दू अन्धराष्ट्रवादी विचारधारा (जिसकी अन्तर्वस्तु वास्तव में आधुनिक फ़ासीवादी विचारधारा है) से लेकर हिन्दू महासभा की विचारधारा (जो अपने पुरातन, कठोर, अनमनीय, बर्बर हिन्दूवाद पर पहले की तरह अडिग है) तक की बात कर सकते हैं; और हम इसके तमाम असंगठित उदार स्वरूपों की बात भी कर सकते हैं, जिसमें अण्णा हज़ारे भी शामिल हैं। आइये, रालेगण सिद्धी में हज़ारे के प्रयोग को बारीकियों में देखें।

रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे : विचारधारा और राजनीति

रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे के पूरे प्रयोग के विश्लेषण से उनकी राजनीति और विचारधारा काफ़ी हद तक साफ़ हो जाती है। हज़ारे इस चिन्तन को सुविचारित तरीक़े से किसी लिखित रूप में नहीं बाँध सकते, क्योंकि वह कोई चिन्तक या विचारक हैं ही नहीं। वह एक ज़मीनी सामाजिक कार्यकर्ता हैं, जिनके व्यवहार से उनकी वस्तुगत विचारधारा निकलकर आती है। और हम उनके ज़मीनी व्यवहार से ही उनकी पूरी सोच को निगमित कर उसका विश्लेषण कर सकते हैं।

रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे के कार्य का बुनियादी हिस्सा उनके विकास कार्य और पर्यावरणीय सुधार कार्य हैं। यह पूरा कार्य महाराष्ट्र की ऐतिहासिक और प्रभुत्वशाली राजनीतिक संस्कृति की निरन्तरता में है और पलटकर उसे मज़बूत बनाती है। धार्मिक पुनरुत्थानवाद के जो मूल्य महाराष्ट्र की राजनीतिक संस्कृति का स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय से हिस्सा रहे हैं, वे मूल्य अण्णा हज़ारे के चिन्तन और व्यवहार में गहराई से जड़ जमाये हुए हैं। और अण्णा का राजनीतिक व्यवहार इसी विचारधारा को सींचने का काम करता है। यह राजनीतिक प्राधिकार और वर्चस्व का विशिष्ट मॉडल है जो जनता के भीतर मौजूद पश्चगामी प्रवृत्तियों का उपयोग करके, और किसी अन्य राजनीति

प्राधिकार की अनुपस्थिति और जनता के स्वयं राजनीतिक तौर पर सचेत प्राधिकार का वस्तु-रूप बनने के अभाव में अपना प्राधिकार स्थापित करता है। इसका आधार एक अतीतग्रस्त ज़मीन पर खड़े होकर नैतिकतावादी आह्वान है। और आर्थिक और भौतिक तौर पर दरिद्र जनता नैतिक, आत्मगत और आध्यात्मिक तौर पर भी दरिद्र होती है, हीनता-बोध का शिकार होती है। ऐसी जनता को ऐसा हर आह्वान अपील करता है; वास्तव में, यह अपनी हीनता के विरुद्ध जनता की प्रतिक्रिया है।

यह नैतिकतावादी, धार्मिक पुनरुत्थानवादी और शुद्धतावादी आह्वान वास्तव में बल-प्रयोग और दण्ड के आस्था तन्त्र का अनुसरण करता है। अण्णा हज़ारे का स्पष्ट मानना है कि धार्मिक और नैतिक ज़मीन पर खड़े होकर जनता के भीतर बिठाया गया भय ही उनका उद्धार कर सकता है। इस पूरे काम के लिए एक मसीहा की ज़रूरत होती है जिसके प्राधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता। जनता स्वयं राजनीतिक तौर पर सचेत होकर अपने स्वशासन के कार्य को स्वयं *कभी* अंजाम नहीं दे सकती। इसके लिए एक नैतिकतावादी नायक की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि रालेगण सिद्धी में अण्णा का वचन नियम-समान है और सभी गाँववासी उसका सम्मान करते हैं। अण्णा हज़ारे ने इस प्राधिकार के निर्माण के लिए दो काम किये हैं। एक तो यह कि उन्होंने अपने जीवन में त्याग, सादेपन और कठोरता को लागू किया। यह सत्य है कि वह एक मन्दिर को अपने कार्यालय के तौर पर इस्तेमाल करते हैं और स्वयं एक कुटिया जैसे निवास में रहते हैं। कई लोग इसी को अण्णा हज़ारे की राजनीति के सही होने के प्रमाण के तौर पर पेश करते हैं, जो कि मूर्खतापूर्ण है। सादा जीवन जीने वाला कोई व्यक्ति फ़ासीवादी विचारों का हो सकता है। सादा जीवन जीकर वह सामान्य सांसारिक जीवन जीने वाले लोगों को हीनताबोध से ग्रस्त कर अपने प्राधिकार को स्थापित करता है। यह एक बहुत सामान्य परिघटना है। यह भी राजनीतिक जीवन का एक सौन्दर्यीकरण है और वॉल्टर बेंजामिन के शब्दों में फ़ासीवादी राजनीति का एक अहम पहलू है। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा है अण्णा हज़ारे आधुनिक अर्थों में फ़ासीवादी हैं। लेकिन उनका फ़ासीवादी विनियोजन निश्चित रूप से हो सकता है (और हो भी रहा है), क्योंकि उनमें धार्मिक पुनरुत्थानवादी अन्धराष्ट्रवाद और श्रेष्ठतावाद के तमाम तत्व मौजूद हैं। वास्तव में, हज़ारे द्वारा मोदी की प्रशंसा दिल से निकली प्रशंसा थी! बाद में हज़ारे के राजनीतिक रूप से अधिक सचेत सलाहकारों, जैसे कि केजरीवाल, भूषण पिता-पुत्र आदि ने उन्हें समझाया कि इसके क्या परिणाम हो सकते हैं, तब जाकर अण्णा हज़ारे ने अपने बयान पर सफ़ाई दी। लेकिन यह मानना होगा कि प्रशंसा स्वत:स्फूर्त थी, लेकिन सफ़ाई नहीं! इसका कारण भी अण्णा हज़ारे की हिन्दू पुनरुत्थानवादी विचारधारा में है।

अण्णा हज़ारे हिन्दू धर्म के प्रतीकों, कठोर नियमों और संहिताओं, अति – और अन्ध-राष्ट्रवाद के आवाहन, शुद्धतावादी नैतिकतावाद, जातिगत पदानुक्रम, स्त्रियों, दलितों और मुसलमानों की अधीनता का अपने अभियान में जमकर इस्तेमाल करते हैं। दलितों और मुसलमानों को लेकर कुछ लोग कह सकते हैं कि अण्णा ने उनके सामाजिक पृथक्करण को दूर किया है, वग़ैरह। लेकिन यह भी देखना होगा कि किस तरह दूर किया गया है यह पृथक्करण। वास्तव में, दलितों को उदार उच्च वर्ण हिन्दू वर्ग की शरण में लाकर इस पृथक्करण से मुक्त किया गया है। यह कैसे हुआ है इस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। लेकिन ये सारे ही तत्व हैं जो विकास और पर्यावरणीय कार्यों के साथ मिलकर अण्णा के 'गाँव के पुनरुत्थान और पुनरुदय' के केन्द्रीय तत्व हैं। अण्णा हज़ारे का प्राधिकार एक विशिष्ट आस्था तन्त्र से समर्थित है, जिसके तहत लोग उनका अनुसरण करते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं और उन पर अपने प्राधिकार को शासनात्मक रूप में लागू करना अण्णा हज़ारे अपना प्राकृतिक अधिकार समझते हैं। 'अण्णा' शब्द का अर्थ ही है 'बड़ा भाई'! अण्णा की भूमिका एक संरक्षक बड़े भाई, अभिभावक या गार्जियन जैसी है। अगर रालेगण सिद्धी के ही एक निवासी के कथन को उद्धृत करें, तो हम इसे साफ़ देख सकते हैं : 'जो अण्णा कहते हैं, हम करते हैं – उनके शब्द आदेश समान हैं, जैसे कि सेना में होता है।' एक अन्य गाँव वाले को सुनें : 'अण्णा जी तो भगवान समान हैं!'

अण्णा का मानना है कि लोगों को सामाजिक रूपान्तरण के लिए राजी करने के लिए हमेशा सलाह या मनाने का तरीक़ा काम नहीं करता। कई बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। यह बल-प्रयोग सामाजिक, भौतिक, शारीरिक या धार्मिक रूप से हो सकता है। जनता में भय पैदा करना बहुत ज़रूरी है। भय ही वह ताक़त है जिससे कि सामाजिक रूप से जड़ जमाये मूल्यों को सुरक्षा और ज़मीन मिलती है। अगर यह भय न हो तो बना-बनाया सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक ढाँचा टूटने लगेगा और समाज में अराजकता फैलने लगेगी। अण्णा हज़ारे अपने प्राधिकार को लागू करने के एक अंग के रूप में सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाकर या पिटाई करके भय पैदा करने का समर्थन करते हैं। ऐसा वह नियमित तौर पर रालेगण सिद्धी में करते भी हैं। अपने हरित गाँव के मॉडल में इस प्रकार के दण्ड और भय को वह अत्यन्त वांछित मानते हैं क्योंकि यह पहले से स्थापित महान भारत राष्ट्र के गौरवशाली मूल्यों और परम्पराओं को बिखरने से बचाता है; जनता को अनुशासित करता है, दण्ड देता है, आज्ञाकारी बनाता है। और इन तमाम कार्रवाइयों को अंजाम देकर जनता में भय, आज्ञाकारिता और अनुशासन पैदा करके अच्छे और नेक इरादों वाला कोई प्रबुद्ध (निरंकुश?!) शासक ही जनता का भला कर सकता है। जनता स्वयं राजनीतिक और सामाजिक रूप से सचेत होकर स्वशासन कभी नहीं कर सकती। जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन के दौरान जब अण्णा हज़ारे से किसी पत्रकार ने पूछा कि वह चुनाव तन्त्र में प्रवेश कर चुनाव क्यों नहीं लड़ते? अण्णा ने जवाब दिया कि अगर वह चुनाव लड़ेंगे तो उनकी ज़मानत ज़ब्त हो जायेगी क्योंकि जिस

देश की जनता सौ रुपये, एक साड़ी, या एक टी.वी. के लिए अपना वोट बेच देती हो वह इस तन्त्र का उपयोग करने के योग्य नहीं है। यह इस देश की जनता से एक ऊँचे मंच पर खड़े होकर राजनीतिक शुद्धता और नैतिकता की उम्मीद करना है। और जब चुनाव में सभी विकल्प आदमखोरों के अलग-अलग गिरोह हैं, तो ज़ाहिर सी बात है, हर कोई अपने वोट की सौदेबाज़ी ही करेगा। लेकिन अण्णा जैसे लोगों की राजनीति इसके जवाब में पूँजीवादी दायरे के भीतर ही पूँजीवादी चुनावी लोकतन्त्र की जगह दूसरा मॉडल पेश करती है : पूँजीवादी धार्मिक पुनरुत्थानवादी निरंकुश प्रबुद्ध शासन! इसे ही 'छद्म विकल्पों का समुच्चय' या देल्यूज़ जैसे नवमार्क्सवादियों की भाषा में 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' कहते हैं! ख़ैर, आगे बढ़ते हैं। स्पष्ट है कि अण्णा का राजनीतिक मॉडल अगर फ़ासीवादी नहीं है, तो यह 'टेण्डिंग टुवर्ड्स फ़ासिज़्म' या फ़ासीवाद द्वारा विनियोजित कर लिये जाने के लिए 'परफ़ेक्ट मटीरियल' है।

इस क़िस्म की आदेश/निर्देश व्यवस्था, आज्ञाकारिता, अनुसरणवादिता को संरचनाबद्ध करने के लिए अण्णा जिस चीज़ का सबसे अधिक इस्तेमाल करते हैं वह है धर्म। अपने प्राधिकार, सत्ता-संरचना (पॉवर स्ट्रक्चर) और प्रबुद्ध निरंकुश शासन तन्त्र के वैधीकरण के लिए अण्णा हज़ारे राम और कृष्ण समेत अनगिनत धार्मिक चरित्रों और प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं। अण्णा ने एक साक्षात्कार में कहा कि भगवान श्री राम दिन-प्रतिदिन जीवन के संचालन और निर्देशन के लिए आदर्श हैं, जबकि वही कार्य पूरे देश के राजनीतिक-सांस्कृतिक जीवन के लिए करना हो तो सही आदर्श भगवान श्री कृष्ण हैं। अण्णा हज़ारे कहते हैं कि एक मन्दिर या ईश्वर के समक्ष ली गयी सौगन्ध को हर हाल में पूरा किया जाना चाहिए। वरना...! आप देख सकते हैं कि आज्ञाकारिता के लिए धार्मिक भय का किस तरह उपयोग किया जाता है। जो नियमों और क़ानूनों (जिन्हें अण्णा ने बनाया है!) का पालन करते हैं वे हरित गाँव के वैध नागरिक हैं, और जो नहीं करते वे या तो अवैध हैं, या उन्हें अनुशासित करने (सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाकर या पिटाई करके) की ज़रूरत होती है। अण्णा कहते हैं, "सेना में लागू रोज़ाना की दिनचर्या जैसे कि सुबह जल्दी उठना, दौड़ना और शारीरिक प्रशिक्षण, शरीर को साफ़ रखना, रिहायश साफ़ रखना और आस-पड़ोस को साफ़ रखना, आदि ने मुझमें एक अनुशासित जीवन पैदा किया, जिसका लाभ मैं आज तक उठा रहा हूँ। आयु, पद या योग्यता में अपने से वरिष्ठ लोगों को आदर देना और उनकी आज्ञा का पालन करना हमें सिखाया गया था... इसने हमारे द्वारा सामूहिक सहमति से तय नियम-क़ानूनों द्वारा रालेगण सिद्धी में गाँव विकास कार्य को संचालित करने में मेरी मदद की है।" यहाँ पर सेना की संरचना को एक गाँव के बाशिन्दों पर लागू करने पर ज़ोर है। सेना में अपने दिनों को अण्णा याद करते हैं और वैसा ही अनुशासन गाँववालों पर थोपना चाहते हैं। निश्चित रूप से सुबह उठना चाहिए, साफ़-सफ़ाई रखनी चाहिए, आदि... लेकिन यह जनता के भीतर वैज्ञानिक जीवन शैली के प्रति एक सहज और नैसर्गिक रुझान पैदा करके किया जाना चाहिए; धर्म के ज़रिये ज़ोर-ज़बरदस्ती का इस्तेमाल करके नहीं। और न ही निजी जीवन में इन चीज़ों का पालन न किये जाने पर किसी को कोड़े लगाये जाने चाहिए। अव्वलन तो ऐसा कोई मॉडल देश के पैमाने पर लागू कर पाना व्यावहारिक तौर पर असम्भव है, और दूसरी बात अगर ऐसा सम्भव होता तो भी नहीं किया जाना चाहिए।

गाँव में क्या करने की इजाज़त है और क्या करने की नहीं, इसके लिए एक लम्बी-चौड़ी संहिता है। पूरा सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन इस संहिता का पालन करता है। यदि कोई नहीं करता है, तो उसे बहिष्कार, कोड़े या पिटाई झेलनी पड़ सकती है! मिसाल के तौर पर कोई दुकान बीड़ी-सिगरेट नहीं बेच सकती, कोई फ़िल्मी गाने नहीं बजाये जा सकते, पिक्चर हॉलों में केवल धार्मिक फ़िल्में लग सकती हैं, जैसे कि 'जय सन्तोषी माँ', 'शिरडी वाले साई बाबा', आदि। आप देख सकते हैं कि इस पूरी संहिता की सतह में एक उच्च वर्णीय हिन्दूवाद और ब्राह्मणवाद काम कर रहा है। इस गाँव में नास्तिक या धर्मनिरपेक्ष संस्कृति के लिए कोई जगह नहीं है।

साथ ही अण्णा हज़ारे युद्ध, सेना, देशभक्ति और देश-रक्षा आदि के जुमलों का जमकर इस्तेमाल करते हैं। आपको अन्धराष्ट्रवाद की थीम रालेगण सिद्धी में बिखरी हुई मिल जायेगी। दुश्मन, रक्षा, युद्ध आदि के पाठ और कथानक रालेगण सिद्धी के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जड़ित हैं। इस तरह की बात लोगों के दिमाग़ में व्यवस्थित तरीक़े से बिठायी गयी है कि हमें गाँव के पुनरुद्धार के द्वारा राष्ट्र निर्माण करना है। हमें एक साथ रहते हुए राष्ट्र को एक सूत्र में (नैतिकतावादी धार्मिक पुनरुत्थानवाद के सूत्र में!) पिरोना है, वरना पाकिस्तान हमारे देश को हड़प जायेगा। इसी से बचने के लिए हमें अपने बच्चों को सेना में भेजना चाहिए। रालेगण सिद्धी के अच्छे-ख़ासे घरों से लोग सेना में गये हैं। अन्धराष्ट्रवाद, जिसका आधार पाकिस्तान-विरोध और धार्मिक पुनरुत्थानवाद और उदार सवर्णवाद है, अण्णा हज़ारे की पूरी विचारधारा के महत्त्वपूर्ण संघटक तत्व हैं।

नैतिकता और आचार की भी एक बेहद बहिष्कारवादी हिन्दू पुनरुत्थानवादी अवधारणा हज़ारे ने रालेगण सिद्धी के निवासियों के दिमाग़ में बिठायी है। यहाँ पर "राष्ट्र" (हिन्दू?!) वह शक्ति है जो जनता के सार्वजनिक और निजी जीवन में नैतिकता और आचार को निर्धारित करता है। जीवन मूल्य और नैतिकता की अवधारणा काफ़ी-कुछ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अवधारणा से मिलती-जुलती है। जैसे कि औरतों को घर-गृहस्थी का ख़याल रखना चाहिए, लेकिन साथ ही उन्हें अपने *राष्ट्र* और *समुदाय* की सहायता करने वाली गतिविधियों में उचित मर्यादा के साथ हिस्सा लेना चाहिए; औरत सार्वभौमिक माता है, महान माता है! तमाम महान माताओं ने महान वीर पुत्रों को जन्म दिया है, जैसे शिवाजी, विवेकानन्द आदि! स्त्री शुद्धता, उदात्तता और आन्तरिक शक्ति का प्रतीक है (बर्दाश्त करने की?!)! बच्चों को बचपन से आज्ञाकारिता (सही होने

की परिभाषा: जो आयु, पद या योग्यता में वरिष्ठ कहता है वही सही है!), अनुशासन, शरीर-निर्माण, देशभक्ति, *संस्कार,* और *हिन्दू संस्कृति* में प्रशिक्षित किया जाता है। *सूर्य नमस्कार* करना और नियमित तौर पर *ओम* का उच्चारण करना विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है। इस पूरे नैतिकता के पाठ को जिस मॉडल के विरोध में खड़ा करके किया जाता है, उसे आप स्वत: समझ सकते हैं: पश्चिमी संस्कृति, नग्नता, मूल्यों, आधुनिकता आदि का हमला!! (भगवान बचाये!!)

जाति के प्रश्न का भी हज़ारे ने नायाब समाधान किया है। दलितों को गाँव के सामाजिक जीवन में सम्मिलित किया गया है और उनके पृथक्करण को भी एक हद तक समाप्त किया गया है। यह सच है। लेकिन सवाल यह है कि यह सामाजिक जीवन है किस क़िस्म का? इसमें जाति व्यवस्था किस रूप में काम करती है? इस पर एक निगाह डालते ही अण्णा की विचारधारा का उच्च जातीय श्रेष्ठताबोध साफ़ हो जाता है। रालेगण सिद्धी में कुछ महाड़, मतंग, सुतार, चमार, आदि हैं। इनके अलावा कुछ जनजातीय आबादी भी है। इसके अलावा पूरी आबादी मराठा हिन्दू है। दलितों के प्रति अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ अण्णा हज़ारे ने संघर्ष किया। उनके सार्वजनिक मन्दिरों में प्रवेश और सार्वजनिक कुँओं से पानी लिये जाने का भी अण्णा से समर्थन किया। कई मौक़ों पर अब वहाँ के दलित भी पूजा का आयोजन कराते हैं, पूरे गाँव को खाना बनाकर खिलाते हैं, आदि। पूरे गाँव ने मिलकर एक बार दलित परिवारों द्वारा लिये गये 75,000 रुपये के क़र्ज़ को चुकता कर दिया। इसके कारण कई दलित परिवार सूदखोरों के चंगुल से बाहर आ गये। इन सबके लिए दलित आबादी में अण्णा हज़ारे के लिए काफ़ी श्रद्धा है। लेकिन यह तस्वीर का सिर्फ़ एक पहलू है जिसपर कारपोरेट मीडिया ने काफ़ी लाइमलाइट डाली है। अब आइये दलितों के मुँह से ही सुनें कि उनका अपना तजुरबा क्या है।

एक भूमिहीन दलित की बात सुनें : "हम रालेगण सिद्धी को एक गाँव नहीं बल्कि एक परिवार कहते हैं, जिसके मुखिया अण्णा जी हैं और *हम लोग वे लोग हैं जो परिवार को सेवाएँ प्रदान करते हैं। यहाँ हिन्दुओं का अर्थ सिर्फ़ मराठा है। हम चमार और महाड़ कभी हिन्दू नहीं कहे जाते हैं। यहाँ यह दावा कैसे किया जा सकता है कि सभी समान हैं? जिनके पास ज़मीन होती है या सेना में नौकरी होती है, उनके विकास का स्तर अलग होता है। हममें और उन में बहुत फ़र्क़ है।"*

एक अन्य दलित जो अण्णा हज़ारे का भक्त है, उसकी बात सुनें : "अब हमारे पास खाना, कपड़ा और घर है। लेकिन बस यही है। इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं। जूते पैरों के लिए होते हैं और हमेशा पैरों के लिए ही रहेंगे। हम इस बिन्दु से आगे कभी नहीं जा सकते। यही इस गाँव की संस्कृति है। मैं पहले भी ग़रीब था, अब भी ग़रीब हूँ। पहले भी भुखमरी से मर रहा था, मेरे लिए अब भी कोई बेहतर स्थिति नहीं है। मैं अपने बच्चों की शिक्षा तक का ख़र्च नहीं उठा सकता। लेकिन मैं अपना मुँह नहीं खोल सकता। इस गाँव में जो कुछ कहा जाता है, उसे मानना ही होता है।" इस दलित का नाम है कैलाश जो गाड़ी चलाना जानता है और उसके पास लाईसेंस भी है, लेकिन वह खेत मज़दूरी करके अपना जीवन बिताता है।

यदि आप इन दलितों के बारे में और गहराई से जानना चाहते हैं तो आप मुकुल शर्मा द्वारा रालेगण सिद्धी पर किये गये अनुसन्धान को देख सकते हैं। उपरोक्त सभी उद्धरण उनके शोध कार्य से ही लिये गये हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दलितों को ब्राह्मणवादी दायरे के भीतर उदार और प्रबुद्ध तरीक़े से संस्थापित कर दिया गया है। उनके दिमाग़ में दान कर्म और उपकार करके यह बात बिठा दी गयी है कि अगर वे *अपना काम* नियम से करें तो उन्हें पृथक नहीं किया जायेगा और उनकी उदारतापूर्वक मदद की जायेगी और ख़याल रखा जायेगा। लेकिन उन्हें यह मानना होगा कि वे मराठा हिन्दुओं के बराबर नहीं हैं; वे कभी नहीं थे और कभी नहीं हो सकते हैं! इसलिए उन्हें अपने उचित स्थान को पहचान लेना चाहिए! एक बार यदि वे ऐसा कर लें तो उदार प्रबुद्ध मराठा हिन्दू शासक समुदाय भी उनका पूरा ख़याल रखेगा! कितना अच्छा दृश्य होगा! मराठा हिन्दू खेतों के मालिक होंगे, सेना और अन्य सरकारी नौकरियों में काम करेंगे और दलित इस बड़े सुखी संयुक्त परिवार को सेवा प्रदान करने वाले सेवक की भूमिका को निभायेंगे! मराठा हिन्दू अपनी तरफ़ से इनके ख़िलाफ़ कोई हिंसा नहीं करेंगे, इनका ध्यान रखेंगे, इनको बीच-बीच में दान दिया करेंगे; जैसा कि एक अच्छा उदार मालिक करता है। लेकिन बराबरी? क़तई नहीं! दलितों की उपयोगिता ही उनके अस्तित्व का वैधीकरण है और उनकी उपयोगिता उन्हीं कार्यों में है जो धार्मिक रूप से निर्धारित हैं। यह है अण्णा हज़ारे द्वारा जाति प्रश्न का समाधान!

अन्त में...

इन सभी सवालों पर अण्णा हज़ारे की अवस्थिति को देखने और अण्णा हज़ारे के रालेगण सिद्धी में प्रयोग के राजनीतिक विश्लेषण से उनकी राजनीति और विचारधारा को अनावृत्त करने के बाद कुछ बातें स्पष्ट हैं। अण्णा हज़ारे की पूरी सोच महाराष्ट्र में मराठा हिन्दू जातियों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में प्रभुत्व से पैदा हुई राजनीति और विचारधारा से निरन्तरता में अवस्थित है। न सिर्फ़ यह उस निरन्तरता की अगली कड़ी है, बल्कि यह उस निरन्तरता को आगे के लिए सुदृढ़ और सशक्त भी बनाती है। यह उस पूरे शक्ति-सम्बन्ध समुच्चय को स्वीकार करती है, उसे सही ठहराती है और उसे *कॉमन सेंस* का हिस्सा बनाने का प्रयास करती है, ताकि वह आलोचनात्मकता के दायरे के बाहर चली जाय। यह एक क़िस्म का हिन्दू सुधारवाद, पुनरुत्थानवाद और पश्चगामिता है। लेकिन इसके बावजूद यह काफ़ी 'आधुनिक' है। बुर्जुआ आधुनिकता के पूरे जटिल ताने-बाने में ऐसे पुनरुत्थानवाद का होना बेहद ज़रूरी है। यह इस समुच्चय के भीतर पूँजीवादी हितों, संस्कृति, भाषा और सामाजिक जीवन के द्वन्द्वात्मक अन्य (डायलेक्टिकल अदर) की भूमिका निभाती है

और रूप में यथास्थिति को जारी रखने और वर्चस्वकारी वर्गों के वर्चस्व को और गहरा और व्यापक बनाने में मदद करती है। यह एक सजातीय और एकाश्मीय एकता की बात करती है; एक ऐसी एकता जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, वैविध्य के प्रति न सिर्फ़ अवहेलना का भाव रखती है, बल्कि उसके प्रति अन्धी है। हज़ारे का पर्यावरणवाद और आर्थिक सहकार लोगों के जीवन में बेहतरी लाता है, लेकिन यह हज़ारे की पूरी विचारधारा को और ख़तरनाक बना देता है क्योंकि इसका आधार एक ऐसा सामाजिक और सांस्कृतिक-सामुदायिक ढाँचा है जिसमें स्वतन्त्र, जनवादी विवेक के उपयोग, आलोचनात्मकता, वर्ग संघर्ष और वर्ग सचेतनता की कोई गुंजाइश नहीं है। इस ढाँचे में कोई ऐसा समुदाय नहीं रह सकता है जो भय, दण्ड, बहिष्कार, दान, धर्मार्थ, शुद्धतावाद, संहिताओं, नैतिकताओं आदि के बोझ से मुक्त हो।

हज़ारे का वर्तमान भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन भी आंशिक तौर पर उनकी इसी राजनीति और विचारधारा से पैदा हुआ है। और यह इस समय इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि भ्रष्टाचार के विरुद्ध आम जनता में व्याप्त गुस्से के झटके को सोख जाने वाला कोई ऐसा 'शॉक एब्ज़ॉर्बर' व्यवस्था को भी चाहिए था, जो व्यवस्था के लिए ही ख़तरा न बन जाये। ऐसे में, भ्रष्टाचार का नैतिकता-अनैतिकता, सदाचार-अनाचार के जुमलों में विश्लेषण करने वाले किसी अण्णा हज़ारे से बेहतर उम्मीदवार और कौन हो सकता था, जो यह समझने में अक्षम हो कि भ्रष्टाचार एक ऐसी परिघटना है जो पूँजीवाद का अभिन्न अंग है; जो वास्तव में यह समझने अक्षम हो, कि पूँजीवादी क़ानूनी परिभाषा के अनुसार जो कार्य भ्रष्टाचार माने जाते हैं, अगर वे न भी हों, तो पूँजीवादी व्यवस्था अपने आपमें भ्रष्टाचार है जो ग़रीब मज़दूर आबादी, किसान आबादी और आम मेहनतकश जनता के शोषण-उत्पीड़न पर टिकी हुई है। आदमखोर पूँजीवादी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था कठघरे में न खड़ी हो, इसके लिए अण्णा हज़ारे की "परिघटना" का पूँजीवादी व्यवस्था ने कुशल उपयोग किया। अब यह उपयोग ख़त्म हो चुका है और इसीलिए अब हज़ारे और उनकी मण्डली की भी हवा निकलनी शुरू हो चुकी है। जन्तर-मन्तर पर जो हल्ला-हंगामा मचा, युवा भारत के उदय की बातें होने लगीं, 'अण्णा की आँधी - आज का गाँधी' जैसे जो नारे बने, वे सब अब बेहद बासी हो चुके हैं और उन पर फफूँद लग चुका है। खाते-पीते घरों का अघाया-मुटियाया, लाल-लाल गालों वाला जो 'युवा भारत' अपनी-अपनी कारों की छत पर 'में बी अण्णा हूँ' की टोपी लगाये, वूफ़र साउण्ड सिस्टम पर 'लगान', 'स्वदेस' जैसी बाज़ारू देशभक्ति की फ़िल्मों के गाने बजाते हुए सड़कों पर पगलाया जा रहा था, वह भी अब इसमें कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं ले रहा है। वास्तव में, जब अण्णा हज़ारे और उनकी 'सिविल सोसायटी' मण्डली आख़िरी बार जन्तर-मन्तर पर इकट्ठा हुई तो 50 लोग जुटने के भी लाले पड़ गये थे। इस प्रहसनात्मक अभियान (नौटंकी?!) का जो सामाजिक आधार था उसमें यही होना था। भविष्य में एक-दो बार फिर इस देश के खाते-पीते उच्च मध्यवर्ग की देशभक्ति और राष्ट्रवाद वाली ग्रन्थि से कुछ स्राव हो सकता है, लेकिन उसका हश्र भी यही होगा, यह दावे के साथ कहा जा सकता है।

जैसा कि हम पहले ही देख आये हैं, अगर भ्रष्टाचार से छुटकारा पाना है तो पूँजीवाद से छुटकारा पाना होगा। पहली बात तो यह कि भ्रष्टाचार-मुक्त सन्त पूँजीवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती और दूसरी बात यह कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वयं एक भ्रष्टाचार है और पूँजी 'छुट्टा साँड़' ब्राण्ड तर्क उसे कभी सदाचार के अपने ही बनाये नियमों का भी पालन नहीं करने देता। पूँजी या तो फैलती है या ख़त्म होती है! और किसी भी क़िस्म के नियम और क़ानून के दायरे में पूँजी के संचय को कभी रोका नहीं जा सकता। इसलिए यह सारा प्रहसन एक बेकार की नौटंकी है। वास्तविक लड़ाई और वास्तविक शत्रु से यह ध्यान को हटा देती है और सतही कारकों पर ध्यान केन्द्रित कर देती है, जो कि हमें कहीं नहीं ले जाता है। इस पूरे नपुंसक हंगामे पर व्यवस्था को भी एक संवेदनशील प्रक्रिया देकर यह जताने का मौक़ा मिल जाता है कि व्यवस्था के साथ तो सब ठीक है, कुछ व्यक्ति भ्रष्ट हैं जिसके कारण यह सारा झमेला है; और साथ ही यह भी दिखाने का मौक़ा उन्हें मिल जाता है कि वे भ्रष्टाचार को लेकर संवेदनशील हैं और एक रात में तो कुछ होता नहीं है, धीरे-धीरे इसका समाधान कर दिया जायेगा! और जनता के नफ़रत और ऊर्जा की भाप को क्रमशः एक 'सेफ़्टी वॉल्व' के ज़रिये निकाल दिया जाता है। इस रूप में अण्णा हज़ारे जैसे लोग व्यवस्था के ही वर्चस्व को और गहरा और व्यापक बनाते हैं। और हज़ारे की विचारधारा जिस क़िस्म की है, वह हम देख चुके हैं। ऐसी विचारधारा समस्या का समाधान नहीं बल्कि स्वयं समस्या का हिस्सा है। समाधान ही ऐसा हो तो समस्या की ज़रूरत ही कहाँ रहती है!

इसलिए हमें इस या उस प्रकार के सभी भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्धों की असलियत को समझना चाहिए और यह समझना चाहिए कि वास्तविक शत्रु यह पूरी पूँजीवादी व्यवस्था है। जब तक इसे उखाड़कर नहीं फेंका जाता तब तक संवैधानिक और असंवैधानिक, क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी, नियम से और नियमेतर तरीक़े से मेहनतकश जनता की मेहनत की लूट चलती रहेगी। आज देश के छात्रों-युवाओं को यह ख़ुद भी समझना होगा और देश को भी समझाना होगा। केवल सी.पी.आई. (एम.एल.) लिबरेशन जैसे अवसरवादियों से यह उम्मीद की जा सकती थी कि वह कोई भ्रष्टाचार-विरोधी छात्र मंच बनाकर जनता के भ्रमों को और बढ़ावा दे। क्योंकि अण्णा हज़ारे की ही तरह उसे भी व्यवस्था को क्रान्तिकारी परिवर्तन से नहीं बदलना है, बल्कि इसी में पैबन्दसाज़ी करते हुए, लाल जुमलों का इस्तेमाल करते हुए शासक वर्गों की ही सेवा करनी है। लेकिन जो सही मायने में इस देश और समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन के मार्ग को अपनाते हैं, उन्हें इस प्रकार के सभी धूम्रावरणों को चीरकर और भ्रमों को तोड़कर क्रान्तिकारी परिवर्तन की परियोजनाओं को संगठित करने में अपनी पूरी ताक़त लगानी होगी।

सामयिकी

भूमण्डलीकरण उदारीकरण के दौर की हड़पनीति!

• प्रेम प्रकाश

मई माह में ग्रेटर नोएडा के भट्टा पारसौल में "यमुना एक्सप्रेस वे" के लिए ज़मीन अधिग्रहण को लेकर पुलिस और किसानों के बीच हिंसक मुठभेड़ हुई। महाराष्ट्र के जैतापुर में परमाणु ऊर्जा परियोजना के विरोध में किसान व स्थानीय लोग आन्दोलन की राह पर हैं। बिहार में "विकास पुरुष" नितीश मुज़फ़्फ़रपुर में प्रस्तावित एस्बेस्टस कारख़ाने के लिए कृषि योग्य भूमि का अधिग्रहण करवा रहे हैं। पुलिस इस देश में अपने अधिकारों के लिए खड़े किसान मज़दूरों पर गोलियाँ चला रही है। आज डलहौजी की आत्मा भारतीय शासक वर्ग के अन्दर प्रवेश कर अपने क्रूरतम रूप में अट्टहास कर रही है। देश के प्रत्येक प्रान्त में पूँजी व मुनाफ़े के लिए लोगों से उनकी ज़मीनें छीनी जा रही हैं। भट्टा से 178 हेक्टेअर व पारसौल से 260 हेक्टेअर ज़मीन ली गयी है। छत्तीसगढ़ में 1.71 लाख हेक्टेअर कृषि योग्य भूमि का अधिग्रहण ग़ैर-कृषि कार्यों के लिए किया गया जिसमें से 67.22 भूमि खनन के लिए ली गयी जो तमाम निजी कम्पनियों को दे दी गयी। मध्य प्रदेश में 150 कम्पनियों को 2.44 लाख हेक्टेअर भूमि अधिग्रहण की अनुमति दी गयी है जिसमें से लगभग 1.94 हेक्टेअर भूमि किसानों से ली गयी जबकि 12,500 हेक्टेअर जंगल की ज़मीन है। झारखण्ड बनने के बाद से खनिज सम्पदा से समृद्ध इस प्रदेश में कार्पोरेट कम्पनियों के साथ 133 सहमति पत्रों पर हस्ताक्षर किये गये जिसमें आर्सेलर ग्रुप, जिन्दल और टाटा प्रमुख हैं। मायावती सरकार द्वारा गंगा और यमुना एक्सप्रेस वे में 15,000 गाँवों के विस्थापन का अनुमान है। उड़ीसा में पॉस्को और वेदान्ता आदिवासियों की जीविका और आवास छीन रही हैं। एक अनौपचारिक अनुमान के अनुसार उड़ीसा में 331 वर्ग किलोमीटर भूमि 300 औद्योगिक संरचनाओं के लिए दी गयी है। 9,500 करोड़ रुपये के यमुना एक्सप्रेस वे के लिए लगभग 43,000 हेक्टेअर ज़मीन ली जायेगी जिसके लिए 1,191 गाँवों को नोटिफ़ाइड किया गया है। और एक अनुमान के अनुसार हाइटेक सिटी द्वारा सात लाख लोग तथा 334 गाँव प्रभावित होंगे। मायावती नोएडा में किसानों को 32 से 44 लाख प्रति एकड़ देने की बात कर रही हैं, लेकिन सरकार वहीं आवास प्लाट 6-17 करोड़ प्रति एकड़ और व्यावसायिक प्लाट 25-60 करोड़ प्रति एकड़ की दर से बेच रही है। किसानों से जो ज़मीन 850-950 रुपये प्रति वर्ग मीटर की दर से ली जा रही है, उसे बाजार में 10,000-16,000 रुपये प्रति वर्ग मीटर की दर से बेचा जा रहा है। ग्रेटर नोएडा से आगरा तक कुल 11 बिल्डरों को ज़मीन दी गयी है जिसमें 4,000-8,250 एकड़ ज़मीन एक-एक कम्पनी के हवाले कर दी गयी है। ये कम्पनियाँ आगे छोटे बिल्डरों और बिल्डर छोटे प्रापर्टी डीलर/बिल्डर माफ़िया को भूमि देने के लिए स्वतन्त्र है। इस पूरे तन्त्र में जो बिल्डर माफ़िया जाल विकसित हो रहा है, वह पूरे इलाक़े में किसानों से ज़मीन छीनने और उसे लूटने में कम्पनियों की गुण्डा पंक्ति का काम कर रहा है।

हमने देखा विकास की अपनी परिभाषा में मदोन्मत्त शासन द्वारा सिंगूर और नन्दीग्राम। नर्मदा बाँध से बेघर लोगों ने आसरे की तलाश में टकटकी लगाये एक उम्र गुज़ार देना। इसी मुल्क में विकास के भूमण्डलीय मॉडल में आयेदिन किसानों की आत्महत्याएँ और पूँजी की शोषणकारी चक्की में पिसते लोग! अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर अपने ही देश में शरणार्थी की तरह प्रवास झेलते लोग! लोग जब चुप रहते हैं

तो पूँजीवादी शान्ति में बिना लहू के सुराग के भी हो रही होती हैं हत्याएँ! और जब आवाज़ उठाना ही विकल्प होता है तो काँप उठती है शासन की बन्दूक़! और आज फिर लोग खड़े हैं अपने न्याय और हक़ के लिए सीना ताने शोषण के विरुद्ध एक बग़ावती तेवर में।

उद्योगों के नाम पर विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) में मज़दूरों के भयंकरतम शोषण की कहानी से लेकर विकास के लिए भूमि की डाकेजनी तक शासक वर्ग का आवाम विरोधी चेहरा बेनक़ाब हो चुका है। विकास के इस मॉडल ने दसों हज़ार किसानों को आत्महत्या करने पर मजबूर किया। 35 लाख लोग घर-बार छोड़ चुके हैं, जबकि उन्हीं की ज़मीन पर 90 लाख 70 हज़ार करोड़ का मुनाफ़ा रीयल स्टेट और कार्पोरेट के लिए खड़ा हो रहा है।

आज विकास ज़मीन क़ब्ज़ा एवं श्रम की बाधामुक्त लूट का पर्याय बन गया है। मेहनतकश के शोषण पर टिका पूँजीवाद आवाम के हाथों से जीवन के बुनियादी ज़रूरी साधन भी छीन रहा है। मुनाफ़े की हवस के कारण बढ़ती महँगाई लोगों की क्रय शक्ति को कम करके मन्दी के चक्रों को जन्म देती है, जो पूँजी और श्रम के अन्तरविरोध को और तीखा करती है। वहीं दूसरी तरफ़ जनता की श्रम की लूट से एक ऐसा खाता-पीता मध्य वर्ग पैदा हो जाता है, जो लूट-तन्त्र में अपनी आमदनी बढ़ाता जाता है। यही मध्यवर्ग रीयल स्टेट का उपभोक्ता है जिसके पैसे पर पूँजीवाद लार टपकाता हुआ मुनाफ़े के लिए भूमि अधिग्रहण और रीयल स्टेट के विकास का गोरखधन्धा खड़ा करता है। पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े को लगातार बढ़ाने के लिए पूँजीवादी राजसत्ता द्वारा लगातार जनता के श्रम, टैक्स द्वारा लिया गया धन और ग़रीब किसान की भूमि आदि सस्ते दरों पर लेकर अपने मुनाफ़े के नये आयाम एवं मार्ग तलाशते हुए लूट-तन्त्र को आगे बढ़ाने का काम करता है। विशेष आर्थिक क्षेत्र के लिए राजसत्ता द्वारा ली गयी ज़मीनें, बिजली सड़क की मुफ्त सुविधाएँ, करों व श्रम क़ानूनों में पूरी तरह छूट देना विकास के जिस मॉडल को दिखा रहा है वह धनिक वर्ग के लिए और अधिक लूट व ग़रीबों की शरीर से ख़ून की अन्तिम बूँद तक निचोड़ने का साधन है। पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने के लिए सड़कों और उद्योगों के नाम पर भूमि का जबरन अधिग्रहण जनता के जनवादी अधिकारों का खुला उल्लंघन है। भूमि अधिग्रहण में राज्य की भूमिका पुलिसिया गुण्डाराज द्वारा जनता में आतंक फैलाकर पूँजीपतियों के लिए ज़मीन देने पर मजबूर करना है। सरकार ने बिल्डरों के लिए नियमों में ढील दी है। जिस ज़मीन पर क़ब्ज़े के लिए पहले 30 फ़ीसदी अग्रिम भुगतान करना होता था, उसे अब घटाकर मात्र 10 फ़ीसदी कर दिया गया है। यह छूट दी गयी है कि मुनाफ़े के मुताबिक़ बिल्डर योजनाएँ बनायें, उपभोक्ताओं से वसूली करें और फिर भुगतान करें।

केवल उत्तर प्रदेश की मायावती सरकार ही नहीं आज देश की विभिन्न चुनावी पार्टियों के लिए ज़मीन पर क़ब्ज़ा ही विकास है। सभी दल आज जनता की लाशों पर चुनावी राजनीति की गोटियाँ फिट करते नज़र आ रहे हैं। तथा जनता के हितों का सौदा करने में कहीं भी पीछे नहीं हैं। पिछले एक वर्ष में केन्द्र सरकार ने 8 नदी घाटी जलविद्युत परियोजनाओं व 49 बिजली परियोजनाओं को हरी झण्डी दी है, इस दायरे में देश की 275,000 एकड़ भूमि है। इसी दौर में 63 से अधिक स्टील और सीमेण्ट प्लाण्ट को हरी झण्डी दी गयी है। जिसके दायरे में 90,000 एकड़ ज़मीन आ रही है। इन योजनाओं के लिए ज़रूरी कोयला और लोहा की खदानों को सरकारें निजी हाथों में सौंप रही हैं। पॉस्को मामले में केन्द्र व राज्य सरकार का रवैया देखकर यह साफ़ हो जाता है कि सरकारों को पूँजीपतियों के हितों की चिन्ता अधिक है। इस देश की ग़रीब जनता तो उनके लिए वोटों के पुतले हैं।

औपनिवेशिक काल का "भूमि अधिग्रहण क़ानून 1894" किसानों के इतने विरोध और गोलियाँ खाने के बाद भी आज तक बदला नहीं गया। 2007 एवं 2009 में इस क़ानून में सुधार के लिए जो बिल आये थे वे आज तक अधर में लटके हुए हैं। ज़मीन अधिग्रहण में राज्य की भूमिका को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक यह स्पष्ट न हो कि अधिग्रहण व्यापक सार्वजनिक हित के लिए हो रहा है। दूसरी तरफ़ जिनकी ज़मीनें ली जा रही हैं, उनकी सहमति भी अनिवार्य है। लेकिन इसके उलट यहाँ भूमि अधिग्रहण नीति कम्पनियों के मुनाफ़े को ही और बढ़ा रही है। यह स्पष्ट हो गया है कि निजी कम्पनियों के लिए राज्य अन्यायपूर्ण तरीक़े से पूरे अर्धसैनिक बलों के साथ लोगों से उनकी जीविका छीन रहा है। पूँजीवादी जनतन्त्र सभी नागरिकों को राज्य एवं क़ानून के सामने समानता की जो बात करता है, उसे आज भूमि अधिग्रहण प्रकरण ने साफ़ कर दिया है कि पूँजीवादी जनतन्त्र वास्तव में व्यापक जनता के ऊपर पूँजीपति वर्ग की तानाशाही है।

भूमि अधिग्रहण के विरोध ने आज जो बग़ावती चेहरा अख़्तियार कर लिया है, उसके सामाजिक आर्थिक मनोविज्ञान की निर्मिति इसी "विकासमान" पूँजीवाद की देन है। जीविका के साधन के रूप में मानव के लिए भूमि प्राचीन साधन है। वर्ग समाज के अस्तित्व में आने से लेकर आज तक शासक वर्गों और आम जनता के बीच इसके स्वामित्व और क़ब्ज़े के कारण मौजूद रहे हैं। जहाँ किसान इसे अपने जीवन के अनिवार्य साधन और एकमात्र विकल्प के रूप में देखता है, वहीं शासक वर्ग इसे अपने मुनाफ़े का साधन व पूँजी के और अधिक विस्तार के रूप में देखता है। पूँजीवाद के आरम्भिक दौर के व्यावसायिक क्षेत्रों में पूँजी की सन्तृप्तता के कारण मुनाफ़े के नये क्षेत्रों की तलाश में पूँजी ने कृषि में निवेश शुरू किया और ज़मीन की ख़रीद-फ़रोख़्त व हड़प से मुनाफ़ा कमाने में जुट गयी। 1947 के बाद भारतीय शासक वर्ग ने जनता से जो वादे किये उनको कभी पूरा नहीं किया। सरकारी नीतियाँ लोगों के जीवन को दिन-प्रतिदिन रसातल में ले गयीं। जीवन के मूलभूत साधनों से लगातार लोग दूर होते गये, अनिश्चितता और अधिक बढ़ती गयी, लोगों को पूर्णतया बाज़ार के हवाले कर दिया गया। भूमण्डलीकरण-उदारीकरण के दो दशकों ने यह स्पष्ट कर

दिया कि जनता की जीविका, शिक्षा, चिकित्सा एवं आवास से, विकास का राग अलापने वाली इन सरकारों को कोई सरोकार नहीं है। बाज़ारवाद, मुनाफ़े की गलाकाट प्रतियोगिता एवं मत्स्य-न्याय व्यवस्था ने यह स्पष्ट कर दिया कि इस देश के हुक्मरानों की पक्षधरता क्या है? ऐसे में किसान आबादी अपनी जीविका के अन्तिम आसरे को छिनता देख इसके विरुद्ध खड़ी हो रही है।

इस देश में लोगों ने नर्मदा बाँध के लगभग 70,000 विस्थापितों को देखा है। जो आज भी अपनी जीविका और आवास के लिए शान्तिपूर्ण तरीक़े से सरकार से लड़ रहे हैं। लोगों ने ज़मीन के बदले मुद्रा मुआवज़ा पाने के बाद किसानों को मोटरसाइकिल व कार दौड़ाते तथा इनको कबाड़ होते देखा है। उन ज़मीनों पर खुलने वाले मॉलों-होटलों के सामने बेरोज़गार किसान परिवारों की लाइनें देखी हैं। मामला मात्र भूमि को "सार्वजनिक कार्य" व कम्पनियों को दिये जाने का नहीं है, बल्कि वर्तमान ढाँचे में जीविका व जीवन के द्वन्द्व का सवाल है। भूमि अधिग्रहण क्षेत्र के वर्तमान उत्पादन तन्त्र व जीवन-पद्धति को नष्ट कर रहा है। बिना वैकल्पिक उत्पादन तन्त्र व जीवन-पद्धति का विकास किये अराजक तरीक़े से मौजूद ढाँचे को नष्ट कर पूँजीवाद सामाजिक ध्वंस की स्थिति पैदा कर रहा है। यह समाज के सहसम्बन्धों व सामाजिक संरचनाओं को तोड़ रहा है। हालाँकि मौजूदा सम्बन्ध एवं सामाजिक संरचनाएँ विवेचन का विषय हैं, फिर भी पूँजी की ताक़त द्वारा मनमाने तरीक़े से इनको नष्ट करना आक्रोश को जन्म दे रहा है। पहले से ही अलगाव एवं सन्त्रास में जी रही जनता को उसकी जड़ों से उजाड़कर, अकेलेपन और कुण्ठा के अन्ध-कूप में ढकेला जा रहा है। जनजाति एवं आदिवासी इलाक़ों में जो लोग मौद्रिक मुआवज़े के उचित प्रयोग एवं निवेश से अपरिचित हैं और साफ़ शब्दों में जो आज पूँजीवाद के तीन-तिकड़मों से अनभिज्ञ हैं, के लिए मुद्रा मुआवज़े के नकारात्मक पहलू हैं। मुद्रा ऐसे लोगों के लिए बर्फ़ के पिण्ड के समान है, जो कब पिघल गयी इसका पता भी नहीं चलता। भूमि अधिग्रहण के पूरे मामले का सबसे अधिक प्रभाव जिस पर पड़ता है, और जो अख़बारी मीडिया से लेकर इलेक्ट्रानिक मीडिया को दिखायी नहीं देता वह उस इलाक़े की बड़ी भारी साधन-विहीन मेहनतकश आबादी, जो भूमि श्रमिक है या रेहड़ी-खोमचा-पटरी बाज़ार से लेकर सैलून एवं चाय की दुकानों एवं तमाम छोटे मोटे कामों में लगी होती है। यह आबादी किसी भी क्षेत्र की दो तिहाई आबादी होती है। भारत में तमाम ऐसे सीमान्त किसान हैं जिनके पास कहने मात्र की भूमि है तथा जिसका मुआवज़ा उनके परिवार के दो माह का ख़र्चा भी नहीं चला सकता। जिस मुआवज़े के इर्द-गिर्द मीडिया की बहस प्रायोजित तरीक़े से केन्द्रित की जाती है, वह ठीक दर से मिल भी जाये तो क्या इस क़ानून और व्यवस्था में साधन-विहीन मेहनतकश आबादी, जो इस देश की उत्पादन शक्ति है और जिसे इस भूमि अधिग्रहण के पूरे परिदृश्य में न तो मुआवज़ा मिलना है, न ही पुनर्वास और न रोज़गार का कोई भरोसा है, को कुछ हासिल होगा। भारत की ग्रामीण आबादी का 50 फ़ीसदी हिस्सा भूमिहीनों का है। ऐसे में भूमि अधिग्रहण के लिए ज़मीन के बदले मुआवज़ा अपने आप में समग्र न्याय की अवधारणा से रहित है।

भूमि अधिग्रहण में जिस विकास की बात की जाती है, वह व्यापक पैमाने पर पर्यावरणीय सन्तुलन को तबाह कर रहा है, जल लग्नता (water logging) को पैदा करता है एवं पारिस्थितिकी सन्तुलन को नष्ट कर रहा है जिसका सबसे अधिक ख़ामियाज़ा इस देश की ग़रीब जनता को उठाना पड़ रहा है। उपलब्ध रिपोर्टों के अनुसार 21 मिलियन लोग "विकास" प्रोजेक्ट के नाम पर अपनी जगह से हटाये गये। सरकार जनता के हितों की अनदेखी कर तथाकथित विकास के नाम पर ज़मीनें हथियाकर उसे या तो सीधे पूँजीपतियों को दे रही है या सरकारी योजनाओं में इस्तेमाल कर रही है जो पूँजीपतियों के मुनाफ़े को और अधिक बढ़ाने में सहायक हो। यह लोगों के जीवन अधिकारों पर राज्य द्वारा हमला है एवं मौलिक अधिकारों का अपहरण है। जिन लोगों से ज़मीनें छीनी जा रही हैं, उनको इस तथाकथित विकास में कोई हिस्सा नहीं मिलता। दूसरे जो व्यक्ति मुआवज़ा लेकर ज़मीन दे रहा है वह उस ज़मीन का स्वेच्छा से विक्रय नहीं करता बल्कि राज्य द्वारा उसके समक्ष विक्रय के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं होता।

सवाल भूमि देने का नहीं है। इसी देश के लोगों ने आज़ादी की लड़ाई के समय अपने प्राणों की बाज़ी लगायी। माओं और बहनों ने आज़ादी की लड़ाई में अपनी पाई-पाई क़ुर्बान की है, लाखों लोगों ने लाठियाँ खायी हैं। सवाल भरोसे का है। सवाल यह है कि जो ज़मीन ली जा रही है क्या वह हमारे विकास के लिए है? क्या हमसे जो छीना जा रहा है वह बदले में बेहतर भविष्य देगा? तो उत्तर न में मिलता है, इसके पीछे धोखे का इतिहास दिखता है। भरोसा "समग्र समावेशी विकास" की मनमोहनी लच्छेदार बातों में नहीं दिखता। भरोसा ठोस एवं दृष्टव्य कार्यवाही एवं यथार्थ ढूँढ़ता है और शासकों का फ़रेब भरोसे को चूर करता है। लोगों की ज़िन्दगी में ख़ुशी के लिए, कृषि, उद्योग और आर्थिक एवं सामाजिक विकास का पथ प्रशस्त करने के लिए, व्यापक योजना एवं उसके क्रियान्वयन के लिए, मज़दूर वर्ग की राजनीतिक विचारधारा और इच्छाशक्ति की ज़रूरत होगी। यह वोट की राजनीति करने वाली, पूँजी की रक्षक, मज़दूर विरोधी नीतियों की पक्षधर चुनावी पार्टियों से नहीं होगा। जगह-जंगल-ज़मीन प्राकृतिक संसाधनों और सबसे आगे मानवता की रक्षा, एक मानव केन्द्रित समाज में ही की जा सकती है। पूँजी की इस अन्धी दौड़ में छोटे किसानों का पिसना व उजड़ना उनकी नियति है। देश की समग्र ग़रीब जनता एवं निम्न मध्यवर्ग के मंसूबों की रक्षा वर्तमान व्यवस्था नहीं कर सकती। ग़रीब-किसान-आदिवासी समुदाय, शोषितों, वंचितों की मुक्ति देश की व्यापक मेहनतकश आबादी के संघर्षों के साथ जुड़कर इस निजी मालिकाने और मुनाफ़े की पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़कर ही हो सकती है।

लखनऊ विश्वविद्यालय में बेतहाशा फ़ीस वृद्धि : एक रिपोर्ट

'पंसारी की दुकान' से 'शॉपिंग मॉल' बनने की ओर अग्रसर यह विश्वविद्यालय

• शिवार्थ

आह्वान के पिछले अंकों में हम लखनऊ विश्वविद्यालय में व्याप्त अकादमिक एवं सांस्कृतिक माहौल के दिवालियेपन के बारे में लिखते रहे हैं। पिछले दिनों इसमें एक नया अध्याय जोड़ दिया गया। अगर थोड़ी छूट लेकर इसकी पिछली हालत और नयी हालत (जिसमें बारे में हम आगे चर्चा करेंगे) की तुलना करें तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पहले इसकी तस्वीर एक क़स्बाई 'पंसारी की दुकान' की तरह थी जहाँ प्रशासनरूपी दुकानदार 'डण्डी मारने' से लेकर घपलेबाज़ी करने तक हर तिकड़म का इस्तेमाल करके छात्रों को लूटता था, वहीं अब थोडा डेण्ट-पेण्ट करके यह एक क़स्बाई 'शॉपिंग मॉल' में तब्दील हो गया है। इस मॉल में 'डण्डी मारना' और घपलेबाज़ी ज्यों की त्यों जारी रहेगी, लेकिन मुनाफ़े का 'मार्जिन' काफ़ी बढ़ जायेगा। दूसरे ग्राहक रूपी छात्रों की जो आबादी इस मॉल तक पहुँचने की औक़ात रखेगी, उसकी प्रकृति में कुछ वैसा ही फ़र्क़ आयेगा जैसा कि एक मॉल और पंसारी की दुकान के ग्राहकों की आबादी के बीच होता है।

अपनी मूल चर्चा पर वापस लौटते हुए, हम देख सकते हैं कि लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा अकादमिक सत्र 2011-2012 के लिए घोषित शुल्क नीति के अनुसार विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संचालित होने वाले कुल 180 पाठ्यक्रमों (इसमें डिप्लोमा कोर्स भी शामिल हैं) में 50 फ़ीसदी से अधिक वृद्धि की गयी है। यह वृद्धि मुख्यत: स्नातक स्तर के पाठ्यक्रमों के लिए की गयी है। बीए (रेगुलर) के लिए 96.7 फ़ीसदी, बीएससी (गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र) के लिए 245.7 फ़ीसदी, बीएससी (जीवविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, रसायनशास्त्र) के लिए 260 फ़ीसदी, बीकॉम (रेगुलर) के लिए 347 फ़ीसदी, एलएलबी (रेगुलर) के लिए 137.9 फ़ीसदी और शास्त्री के लिए 63.2 फ़ीसदी की वृद्धि की गयी है। (देखें तालिका–1) विश्वविद्यालय द्वारा पूर्णतया 'धन-उगाही' के लिए संचालित स्ववित्तपोषित पाठ्यक्रमों में बीए (ऑनर्स) के लिए 28.7 फ़ीसदी, बीएससी (ऑनर्स) के लिए 71.8 फ़ीसदी, बीकॉम (ऑनर्स) के लिए 67.8 फ़ीसदी और एलएलबी (ऑनर्स) के लिए 257 फ़ीसदी की वृद्धि की गयी है। (देखें तालिका–2) स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के शुल्क में वृद्धि तो नहीं की गयी लेकिन सभी पाठ्यक्रमों के लिए पंजीकरण शुल्क में सीधे 275 फ़ीसदी की वृद्धि करते हुए 200 रुपये से 750 रुपये कर दी गयी है। चूँकि यह शुल्क विश्वविद्यालय में दाख़िला लेने वाले सभी छात्रों से वसूला जायेगा, इसलिए सभी पाठ्यक्रमों के लिए 550 रुपये शुल्क में सीधे बढ़ जायेंगे।

तालिका–1 (सामान्य पाठ्यक्रम)

पाठ्यक्रम	फ़ीस		वृद्धि दर
	2010	2011	(प्रतिशत में)
बीए (रेगुलर)	1710	3364	96.7
बीएससी (रेगुलर)			
(गणित भौतिकी, रसायनशास्त्र)	2645	9144	245.7
(जीव विज्ञान, रसायनशास्त्र)	3095	11144	260
(गणित भौतिकी, कम्प्यूटर)	5695	14144	148.3
बीकॉम (रेगुलर)	1710	7644	347
एलएलबी (रेगुलर)	1654	3935	137.9
शास्त्री	1700	2775	63.2
बीएड			18387

इसके अलावा स्थानान्तरण प्रमाणपत्र प्राप्त करने के शुल्क में 66.67 फ़ीसदी, प्रति पेपर स्क्रूटनी शुल्क में 20 फ़ीसदी और प्रति पेपर बैकपेपर शुल्क में 140 फ़ीसदी की वृद्धि की गयी है। (देखे तालिका–3)

इस वृद्धि के बारे में घोषणा करते हुए विश्वविद्यालय के वित्त अधिकारी श्री राजवर्धन ने कहा कि "विश्वविद्यालय की फ़ीसों में औसतन 33 फ़ीसदी का इज़ाफ़ा किया गया है।" यह वृद्धि दर का एक भ्रामक विश्लेषण है, क्योंकि फ़ीस वृद्धि का प्रभाव छात्र औसत रूप में नहीं बाँटेंगे बल्कि अलग-अलग छात्र अलग-अलग रूप में इससे प्रभावित होंगे। अगर वृद्धि दर को देखा जाये तो बीए (रेगुलर), बीएससी (रेगुलर), बीकॉम (रेगुलर) में वृद्धि दर क्रमशः 96.7, 245.7 और 347 फ़ीसदी है। वहीं इन्हीं के समान्तर चलने वाले स्ववित्तपोषित पाठ्यक्रम जैसे बीए (ऑनर्स), बीएससी (ऑनर्स) और बीकॉम (ऑनर्स) के लिए वृद्धि दर क्रमशः 28.7, 71.8 और 67.8 फ़ीसदी हैं। ज़्यादातर ग़रीब पृष्ठभूमि से आने वाले छात्र सामान्य पाठ्यक्रमों में दाख़िला लेते हैं, और जैसा कि ऊपर दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है कि इन्हें ही फ़ीस वृद्धि का भार सबसे अधिक सहन करना पड़ेगा। दूसरे सामान्य पाठ्यक्रमों में स्ववित्तपोषित पाठ्यक्रमों से कई गुना अधिक छात्र दाख़िला लेते हैं, यानी विश्वविद्यालय के लिए 'धन-उगाही' का भार भी सबसे अधिक यही छात्र वहन करेंगे। ऐसे में औसतन वृद्धि-दर की बात करना, आँकड़ों की बाज़ीगरी करना है; जिसमें एक योग्य प्रशासक की तरह वित्त अधिकारी महोदय भी काफ़ी प्रतिभा-सम्पन्न है।

तालिका–2 (स्ववित्तपोषित पाठ्यक्रम)

पाठ्यक्रम	फ़ीस		वृद्धि दर
	2010	2011	(प्रतिशत में)
बीए (ऑनर्स)	14200	18275	28.7
बीएससी (ऑनर्स) (गणित भौतिकी, कम्प्यूटर)	15350	26375	71.7
(जीवविज्ञान, रसायनशास्त्र, बायोटेक्नोलाजी)	31095	51144	64.4
बीकॉम (ऑनर्स)	36200	60775	67.8
एलएलबी (ऑनर्स)	14200	50775	257

वैसे यह फ़ीस वृद्धि कोई अप्रत्याशित घटना नहीं है। पिछले दो दशकों से जारी और भविष्य के लिए प्रस्तावित शिक्षा नीति का मूलमन्त्र ही है कि सरकार को उच्च शिक्षा की ज़िम्मेदारी से पूरी तरह मुक्त करते हुए उसे स्ववित्तपोषित बनाया जाये। ताज़ा आँकड़ों के अनुसार आज केन्द्रीय सरकार सकल घरेलू अत्पाद (जीडीपी) का 1 फ़ीसदी से कम उच्च शिक्षा पर ख़र्च करता है और यह भविष्य में बढ़ेगा, इसकी उम्मीद कम ही है। मानव संसाधन मन्त्रालय के हालिया बयानों में यह बात प्रमुखता से आयी है, हर तीन साल बाद विश्वविद्यालय की फ़ीसों में बढ़ोत्तरी की जाये ताकि राज्य इस ज़िम्मेदारी से मुक्त हो सकते। बिरला-अम्बानी-रिपोई से लेकर राष्ट्रीय ज्ञान आयोग और यशपाल समिति की सिफ़ारिशें भी इसी आशय की हैं।

ऐसे में दुनिया की महाशक्ति बनने का सपना संजोने वाले इस देश की सरकार की पक्षधरताएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। उच्च शिक्षा का क्षेत्र महज़ इसकी एक और बानगी है। लेकिन सवाल सिर्फ़ सरकार का ही नहीं है। इन नीतियों के लिए देश की उच्च मध्यवर्गीय आबादी का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। फ़ीस वृद्धि के लिए सरकार और प्रशासन द्वारा दिये जाने वाले हर नाजायज़ तर्क को स्वीकार करने वाली यह आबादी ग़रीबों के बेटे-बेटियों को कैम्पसों की दहलीज से बाहर होता देख एक सुख का भी एहसास करती है। यही कारण है कि आयेदिन विश्वविद्यालयों के जो शिक्षक अपने शिक्षक संघों के माध्यम से हर वेतन-भत्ते और वेतन आयोग की सिफ़ारिशों को जल्द से जल्द लागू कराने के लिए धरना और विरोध प्रदर्शन करते हैं, वे फ़ीस वृद्धि जैसे मुद्दों पर चूँ तक नहीं करते और प्रशासक के रूप में इन नीतियों को लागू कराते हैं। हमारे सभ्य-समाज के सम्मानित प्रतिनिधि को भी यह देश के विकास के लिए ज़रूरी लगता है। चुनावी पार्टियों के पिछलग्गू छात्र संगठन और एसएफ़आई, आइसा जैसे छदम् वामपन्थी संगठन भी जुबानी जमाख़र्च करके अपनी ज़िम्मेदारियों का निर्वहन कर देते हैं। ऐसे में इस अन्यायपूर्ण फ़ीस वृद्धि के ख़िलाफ़ छात्रों को संगठित करते हुए एक संघर्ष छेड़ने की ज़िम्मेदारी क्रान्तिकारी छात्र संगठनों के कन्धे पर ही टिकी है। इस संघर्ष को उन युवाओं तक भी लेकर जाना होगा, जो इस फ़ीस वृद्धि के कारण या तो अभी दाख़िला नहीं प्राप्त कर पाये या भविष्य में नहीं कर पायेंगे। बिना इनकी ताक़त के कोई व्यापक संघर्ष खड़ा कर पाना नामुमकिन होगा।

तालिका–3 (विभिन्न मद)

पाठ्यक्रम	फ़ीस		वृद्धि दर
	2010	2011	(प्रतिशत में)
स्थानान्तरण प्रमाणपत्र (माइगेशन सर्टिफ़िकेट)	300	500	66.67
स्क्रूटनी शुल्क (प्रति पेपर)	500	600	20
बैकपेपर शुल्क (प्रति पेपर)	500	1200	140

विज्ञान

मानव ज्ञान का चरित्र और विकास

• सनी

इंसान ने अपने जीवन की संघर्षपूर्ण यात्रा की शुरुआत आज से लगभग 2,50,000 साल पहले की थी। उसने इस दौरान धरती पर हो रही अद्‌भुत गतिमान परिघटनाओं को समझा, उनमें से कुछ को अपने क़ाबू में करना सीखा है। समुद्री यात्राओं से लेकर अन्तरिक्ष तक में क़दम रखे। विश्व के अपने संवेदनों द्वारा वर्णित चित्रों को नये रूप तथा नयी परिभाषाएँ दीं। वैज्ञानिक विश्लेषण तथा कलात्मक नज़रिये से उसने दुनिया को अपने रहने लायक़ बनाया। प्रकृति तथा सम्पूर्ण जगत के रूपों तथा उसकी ख़ूबसूरती को नियमबद्ध कर, चित्रित कर ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में व्याख्यायित किया है। भौतिक विश्व लगातार प्रक्रियामान है, बदल रहा है, इसके साथ ही हर क्षेत्र में हमने प्रकृति को तार्किक सूत्रों में व्याख्यायित करने की कोशिश की है। पर क्या मानव ज्ञान भी परिवर्तनशील है या यह सिर्फ़ हमारे तार्किक विचारों का समुच्चय है, दिव्य-प्रदत्त है जो कि अपरिवर्तनशील है? इस सवाल की चीर-फाड़ करने पर हम यहाँ दो काम कर सकेंगे, पहला – हम ज्ञान-सिद्धान्त (एपिस्टेमोलॉजी) की अलग व्याख्याओं को रख सकते हैं, दूसरा – हम ज्ञान-सिद्धान्त की तार्किक व्याख्या सकेंगे। ज्ञान सिद्धान्त पर पहुँचने से पहले हम प्रमुख धाराओं का विश्लेषण व तुलना (comparision) करेंगे। अपनी बात को सहज, सरस और सम्प्रेषणीय बनाने के लिए हम कुछ सवालों से शुरुआत करेंगे।

मुर्ग़ी पहले आयी या अण्डा?

"मुर्ग़ी पहले आयी या अण्डा" यह सवाल तो आपने सुना ही होगा। फ़्रांस में पुनर्जागरणकालीन महान भौतिकवादी दार्शनिक दिदेरो समकालीन भाववादी दालम्बेयर से इस पर कहते हैं कि यह सवाल पूछना ख़ुद में बेवक़ूफ़ी भरा है। वे समझाते हैं कि हम यह सवाल पूछकर इस विचार से प्रस्थान करते हैं कि भौतिक जगत अपरिवर्तनशील है। मुर्ग़ियाँ, अण्डे, इंसान आदि सदा से मौजूद हैं। इस समय तक (इस वार्तालाप के समय तक) डार्विन का उद्‌विकास का सिद्धान्त आया नहीं था जिसने आगे चलकर इस सवाल के आधार को ख़त्म कर दिया। आगे दिदेरो कहते है कि "अण्डा क्या है? एक संवेदनहीन पिण्ड पर यह पिण्ड विविध संघटन, संवेदन तथा ज़िन्दगी तक कैसे पहुँचता है?" इस सवाल के दो जवाब हो सकते हैं – पहला, संवेदन शक्ति बाहर से उसमें (संवेदनहीन पिण्ड में) प्रवेश करे और दूसरा "संवेदनशक्ति पदार्थ का एक सामान्य गुण है, यह उसके संघटन का परिणाम है।" ये आधुनिक दर्शन की दो मुख्य शाखाओं के अन्तरविरोधी जवाब हैं। एक शिविर है जो मानता है कि मानव संवेदन पदार्थ के विशिष्ट संघटन का गुण है। यह भौतिकवादी शिविर है। दूसरा शिविर विचारों को पदार्थ जगत से अलग मानता है, ईश्वरपरक, भाववादी, (Metaphysical) आदि इस शिविर में आते हैं। दिदेरो भौतिकवादी शिविर के विशिष्ट दार्शनिक थे। वे भौतिक जगत को परिवर्तनशील तथा चेतना को पदार्थ का विशेष गुण मानते थे। आज यही धारा विज्ञान की धारा है। भौतिकवाद ही चेतना तथा पदार्थ के रिश्ते को, ज्ञान सिद्धान्त को समझा सकता है। अगला सवाल यह है कि चेतना तथा पदार्थ, चिन्तन और अस्तित्व, ज्ञान तथा मस्तिष्क के बीच क्या सम्बन्ध है?

क्या हम मस्तिष्क से सोचते हैं?

यह कैसा विचित्र प्रश्न है!? न्यूरोसाइंस का कोई वैज्ञानिक हमें हंसकर इसका सीधा जवाब देगा, हाँ! न्यूरोसाइंस तथा न्यूरोसाइकोलॉजी जैसे विषयों में प्रगति के बाद यह सवाल बड़ा बेतुका लगता है। दरअसल मानव की चेतना तथा बाह्य संसार के बीच का पुल हमारी संवेदनाएँ (इन्द्रियों द्वारा होने वाली अनुभूति) हैं और एक क्रान्तिकारी व्यवहार करने वाला दार्शनिक इसमें यह जोड़ेगा कि इन संवेदों से पैदा चेतना से प्रेरित व्यवहार के ज़रिये मनुष्यों की बाह्य विश्व के साथ अन्तर्क्रिया वह दूसरा पुल है जिससे मनुष्य का आत्मगत जगत वस्तुगत जगत से जुड़ता है। इस सच्चाई के प्रथम हिस्से को एक दूसरे छोर पर पहुँचाकर और सिर के बल खड़ा कर दार्शनिकों की एक टोली यह कहती है कि सिर्फ़ संवेदनाएँ ही सम्पूर्ण दुनिया में मौजूद हैं; कोई भौतिक विश्व और चिन्तनशील मस्तिष्क मिथ्या हैं। सम्पूर्ण ज्ञान, तथा ख़ुद सम्पूर्ण विश्व हमारी संवेदनाओं का सम्मिलन है, हमारे आस-पास मौजूद वस्तुएँ और कुछ नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का सम्मिलन हैं। परन्तु

इन दार्शनिकों से यह सवाल पूछा जा सकता है कि ये संवेदनाएँ किस मनुष्य की हैं? क्या यह किसी एक मनुष्य की हैं? अगर यह करोड़ों मनुष्यों की हैं तब आप अपनी पाँच संवेदनाओं के सम्मिलन से इतर मौजूद करोड़ों संवेदनशील मनुष्यों की मौजूदगी मानते हैं। आप संवेदना के इतर अस्तित्व को मानते हैं। यह दर्शन का मस्तिष्कहीन सिद्धान्त है। यह दुनिया हमारी संवेदनाओं के बाहर भी मौजूद है। आँखें बन्द करने पर दुनिया ख़त्म नहीं होती। और अगर सम्पूर्ण विश्व सिर्फ़ संवेदनाओं का सम्मिलन है तो मानव के अस्तित्व में आने से पहले, मानव संवेदन के अस्तित्व में आने से पहले क्या दुनिया मौजूद नहीं थी? भू-विज्ञान, उद्विकास के सिद्धान्त इस लक्ष्य तथा विचार के बिल्कुल उल्टे खड़े हैं। विज्ञान तथा भौतिकवाद के अनुसार पृथ्वी के विकासक्रम में विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न हुए जैविक पदार्थ ने उद्विकास की प्रक्रिया में मानव तथा उसके मस्तिष्क को बनाया। मस्तिष्क में ही चेतना मौजूद होती है। हमारी इन्द्रियाँ बाह्य जगत के संवेदन से हमारी चेतना का विकास करती हैं। मानव मस्तिष्क भौतिक विश्व का ही हिस्सा है, जहाँ भौतिक जगत का प्रतिबिम्बन होता है। इस भौतिक विश्व में मनुष्यों का सामाजिक व्यवहार ही उनके ज्ञान का स्रोत होता है। उपरोक्त विचारधारा को सॉलिप्सिज़्म कहा गया है। धारा मानती है कि विश्व और कुछ नहीं बल्कि संवेदनों का एक समुच्चय है। यह भौतिक तौर पर है या नहीं इसकी पुष्टि नहीं हो सकती है। जो कुछ है संवेदन है। न तो उसके आगे कुछ है और न ही उसके पहले कुछ है। लेकिन आधुनिक विज्ञान के विकास ने दिखलाया है कि मनुष्यों के आविर्भाव से पहले भी पृथ्वी थी और विकासमान थी। भौतिक जगत मनुष्य के प्रेक्षण की पैदावार नहीं है, बल्कि यह उससे स्वतन्त्र एक वस्तुगत यथार्थ है। वह अपने मस्तिष्क से जो सोचता है वह और कुछ नहीं बल्कि इसी भौतिक जगत के अंग के तौर पर अस्तित्वमान एक मनुष्य के मस्तिष्क में इन्द्रिय-संवेदों के ज़रिये इस भौतिक जगत के कुछ सीमित यथार्थों का प्रतिबिम्बन है।

अबूझ, अज्ञेय ज्ञान या व्यावहारिक ज्ञान?

ज्ञान सिद्धान्त को समझने के लिए यह तीसरा महत्त्वपूर्ण सवाल है। अठारहवीं सदी के प्रबुद्ध दार्शनिक काण्ट ने सवाल उठाया था कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान हमारी संवेदनाओं पर टिका हुआ है, परन्तु हमारी संवेदनाएँ उस वस्तु को पूर्णत: चित्रित नहीं करतीं; इसलिए अपूर्ण चित्रण के कारण हम विश्व के नियमों को जान ही नहीं सकते। हम अपने सामने रखी किताब के हर गुण को नहीं जान सकते इसलिए हम कुछ नहीं जान सकते। यह सम्पूर्ण विश्व अबूझ व अज्ञेय है। हम हर वस्तु को अपने सिर पर प्रश्नचिह्न लगाकर देख सकते हैं, जवाब मिलने की गारण्टी नहीं है। पर अगर ऐसा है तो हमारा सारा इतिहास, विज्ञान, हमारी कला बांझ बन जाती है। इस अबूझ पहेली का सीधा हल है – व्यवहार। किसी भी वस्तु के बारे में हमारा ज्ञान व्यवहार में अपूर्णता से पूर्णता की तरफ़ बढ़ता है। काण्ट यह मानते थे कि वस्तुगत जगत है। वह किसी भाववादी के समान वस्तुगत जगत को मस्तिष्क की पैदावार नहीं मानते थे और यह समझते थे कि वस्तुगत जगत मस्तिष्क के होने न होने से स्वतन्त्र है। अब सवाल था इस वस्तुगत जगत को मस्तिष्क के ज़रिये समझने और उसकी अवधारणा विकसित करने का, उसके विज्ञान को समझने का। काण्ट का दर्शन यहीं आकर रुक जाता है। काण्ट के अनुसार हर प्रेक्षण अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण है। ऐसे में, प्रेक्षण आपको वस्तुगत यथार्थ की सही-सही जानकारी और समझ कैसे दे सकता है? इसलिए आप वास्तविक विश्व को कभी जान या समझ नहीं सकते। इसी को काण्टीय अज्ञेयवाद कहा जाता है। लेकिन इस सवाल का जवाब भौतिकवाद ने व्यवहार के सिद्धान्त के ज़रिये दिया।

आपकी इन्द्रियाँ प्रेक्षण के ज़रिये आपको बता रही हैं कि सामने सेब रखा है। पर आप इस बात की पुष्टि कैसे कर सकते हैं? आप अपनी इन्द्रियों के प्रेक्षण पर तो निर्भर नहीं रह सकते! भौतिकवादी द्वन्द्ववाद इसका सीधा-सा उत्तर देता है : मान्यवर! सेब उठाइये और खा लीजिये; अज्ञात सेब ज्ञात हो जायेगा! पूरा मानवीय ज्ञान व्यवहार पर टिका है। जंगल युग में जंगलों में लगी आग को लम्बे व्यवहार से अर्जित अनुभव और उन अनुभवों के समुच्चय के सामान्यीकरण के ज़रिये निकलने वाले ज्ञान के आधार पर ही क़ाबू किया जा सका। यान्त्रिकी गति का पूर्ण इस्तेमाल करने के लिए व्यवहार में ही सीखते हुए पहिये की खोज हुई। जानवरों की ताक़त का खेती में इस्तेमाल किया, यातायात के लिए भी जानवरों की शक्ति का प्रयोग किया। बैलगाड़ी की अवधारणा को ही आगे बढ़ाकर जब वाष्प ईंजन की खोज हुई तो मोटर गाड़ी भी अस्तित्व में आयी। संख्यायिकी से गणित, लॉजीकल गेट्स से लेकर कृत्रिम कोशिका मानवीय व्यवहार की ही देन हैं। व्यवहार से अर्जित अनुभवों के समुच्चय का मनुष्य अपने विवेक और तर्कशक्ति के आधार पर सामान्यीकरण करता है। यह सामान्यीकरण ही मनुष्य को इन्द्रियानुगत ज्ञान से अवधारणा तक ले जाता है। मनुष्य का ज्ञान यदि अनुभवों के समुच्चय पर ही रुक जाता है तो भी वह पूरा नहीं हो सकता। अगर वह अनुभवों की अवहेलना कर सिर्फ़ विवेक और तर्कशक्ति पर भरोसा करता है, तो वह किताबी, अव्यावहारिक और शेखचिल्लीनुमा होगा। अगर वह सिर्फ़ अनुभव पर भरोसा करता है तर्कशक्ति और अवधारणात्मक ज्ञान पर नहीं, तो वह अनुभववादी के समान एक ही चक्रीय व्यवहार के गोले में घूमता रहेगा और गतिमान विश्व के लिए जल्दी ही अप्रासंगिक बन जायेगा। इसलिए अनुभवसंगत ज्ञान से बुद्धिसंगत ज्ञान तक की यात्रा अनिवार्य है। लेकिन यहीं पर यह यात्रा ख़त्म नहीं होती। यदि बुद्धिसंगत ज्ञान पलटकर वापस व्यवहार में नहीं उतरता तो इस बात की कभी पुष्टि नहीं हो सकती है कि अनुभवों के समुच्चयों का जो सामान्यीकरण तर्कशक्ति और विवेक के आधार पर किया गया वह मुख्य रूप से सही है या नहीं, क्योंकि बचकाने क़िस्म के सामान्यीकरण भी हो सकते हैं! इसलिए ज्ञान की पूरी यात्रा व्यवहार से सिद्धान्त और फिर व्यवहार, और फिर सिद्धान्त के अन्तहीन सिलसिले के ज़रिये आगे बढ़ती रहती है। यही ज्ञान का द्वन्द्ववादी

भौतिकवादी सिद्धान्त है।

विविध व्याख्याएँ

चलिये ऊपर दिये गये तीनों सवालों को समेट लेते हैं। दरअसल सम्पूर्ण मानव-इतिहास के दर्शन का प्रश्न चिन्तन तथा अस्तित्व के सम्बन्ध का प्रश्न है। मूल जंगल युग के समय से मौजूद इस सवाल का जवाब चिन्तनशील आत्मा को अस्तित्वमान शरीर से पृथक कर और उसका मानवीकरण करके दिया गया। तब के अलग हुए आत्मा और शरीर आज तक व्यापक तौर पर मौजूद तमाम धार्मिक शिक्षाओं में अलग ही हैं! प्राकृतिक विज्ञान के स्पष्टीकरण के बावजूद जनता को कूपमण्डूकता में बनाये रखने के चलते यह पृथक्कीकरण नहीं मिटा है। इसके कारण की तलाश करना अलग से एक लेख की माँग करता है। इस सवाल को हम आगे ज़रूर उठायेंगे। प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण द्वारा विभिन्न देवता पैदा किये गये, सामाजिक ढाँचे और धर्म के विकासक्रम में ये देवता अधिक लौकिक रूप ग्रहण करते गये। अमूर्तीकरण द्वारा ही ये एकत्व तक पहुँचते हैं। अल्लाह, ब्रह्मा, गॉड का आविष्कार होता है। चेतना तथा पदार्थ के बीच की रेखा को भी इसी दौरान धूमिल किया गया है। मुख्यत: तीन प्रमुख नुक्तों को समझ लेना यहाँ ज़रूरी है – पहला, आज दो मुख्य दार्शनिक शाखाएँ मौजूद हैं; एक पदार्थ को प्रमुख मानती है तो दूसरी चेतना को। दूसरा सवाल विश्व के नियमों को हमारी संवेदनाओं और विवेक पर रखकर परखने का है। तीसरा यह कि क्या किसी भी वस्तु को हम जान सकते हैं या नहीं? इन तीनों सवालों की हमने सिलसिलेवार व्याख्या की तथा यह दिखाया कि मानवीय चेतना पदार्थ का ही विशिष्ट गुण है तथा व्यवहार ही सम्पूर्ण ज्ञान सिद्धान्त को सत्यापित करता है। भारत में भी दर्शन के दोनों शिविरों के बीच संघर्ष शुरू से जारी रहा है। ऋग्वेद में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी को समझाते हुए कहते हैं – "जिस प्रकार नमक का ढेला पानी में फेंकने पर पानी में घुल जाता है और तुम उस ढेले को नहीं पकड़ सकती हो, किन्तु पानी जहाँ कहीं से भी लो वह निश्चय ही नमकीन होता है, ठीक उसी प्रकार यह महान, यह अनन्त, यह असीम, विज्ञानधन आत्मा केवल इन भूतों से ऊपर उठकर उनमें ही लीन हो जाती है। वह जब उसमें लीन हो जाती है तो संज्ञा का अस्तित्व नहीं रहता"। याज्ञवल्क्य एक महान भाववादी दार्शनिक थे। उस समय तक याज्ञवल्क्य को यह ज्ञान नहीं था कि उस नमकीन पानी को उबाल देने से हमें नमक वापस मिल जाता है, वरना वे इन भूतों से आत्मा को वापस उबालकर प्राप्त कर लेते! ख़ैर, अब हम ज्ञान के वैज्ञानिक सिद्धान्त को पेश करेंगे।

ज्ञान सिद्धान्त

ज्ञान भौतिक जगत के प्रतिबिम्ब के रूप में

ज्ञान एक वैज्ञानिक वस्तु होता है। चिन्तन की प्रक्रिया में मनुष्य की चेतना पर भौतिक जगत के विभिन्न हिस्सों तथा प्रक्रियाबों का प्रतिबिम्बन होता है। यह दुनिया हमारे सिद्धान्तों, तर्कों या विज्ञान के हिसाब से नहीं चलती बल्कि हम व्यवहार द्वारा प्राकृतिक तथा सामाजिक परिघटनाओं तथा प्रक्रियाओं के अनुसार अपने विज्ञान, सिद्धान्त तथा तर्कों का निर्माण करते हैं। यह भौतिक विश्व विकासमान होता है, इसलिए हमारा ज्ञान भी विकासमान होता है। वस्तुएँ हमारी चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्वमान होती हैं। हमें पिछली सदी तक यह ज्ञात नहीं था कि आँख में लगने वाले काजल में कार्बन नैनोट्युब्स मौजूद होती है। काजल के अन्दर कार्बन नैनोट्यूब्स पहले से मौजूद थी न कि तबसे जब वैज्ञानिकों ने प्रयोग कर इनकी मौजूदगी प्रस्थापित की। किसी वस्तु के कुछ गुण ज्ञात होते हैं तो कुछ अज्ञात। व्यवहार से अज्ञात ज्ञात में बदलता है, नये निश्चित व अनिश्चित पैदा होते हैं।

हमारा ज्ञान लगातार अज्ञानता से ज्ञान की ओर बढ़ता है; यह बना-बनाया अपरिवर्तनशील नहीं होता बल्कि सतत गतिमान और विकासमान भौतिक विश्व का लगातार प्रतिबिम्बन करता हुआ विकासशील होता है। सम्पूर्ण ज्ञानयुक्त ब्रह्म कुछ नहीं होता। ज्ञान लगातार उथलेपन से गहरेपन की तरफ़ बढ़ता है, एकांगी से बहुमुखीपन की तरफ़ बढ़ता है। भौतिकी का न्यूटन के सिद्धान्तों से क्वाण्टम भौतिकी तथा सापेक्षिता सिद्धान्त, कास्मोलोजी तक विकास यही दिखाता है। हर विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में ज्ञान एकांगी से बहुमुखी तथा उथलेपन से गहरेपन की ओर बढ़ता है। इंसान का व्यवहार ही बाहरी जगत के बारे में ज्ञान की कसौटी होता है। हमारी संवेदनाओं द्वारा अनुभूत वस्तुओं के गुणों को हम वस्तुओं के इस्तेमाल के दौरान ही परीक्षण में लाते हैं। अगर वस्तु के बारे में हमारा बोध सही है तो व्यवहार में वस्तु के गुण हमारे विचारों को पुख्ता करते हैं। जब हम व्यवहार में असफल होते हैं तो हम संवेदना के बोध पर पुन: विचार करते हैं तब हम वस्तु के असल रूप या बदले हुए रूप के सार के अनुसार विचारों में बदलाव करते हैं। यही ज्ञान के प्रतिबिम्बन का सिद्धान्त है।

ज्ञान तथा व्यवहार

ज्ञान मूल रूप से व्यवहार पर टिका होता है। व्यवहार के दौरान ही इंसान खुद के संवेदनाबोध को परखता है तथा संवेदनाबोध द्वारा पैदा हुई धारणाओं का भी व्यवहार में ही निर्माण करता है। व्यवहार का तात्पर्य सामाजिक व्यवहार है। ज्ञान सिर्फ़ सामाजिक व्यवहार से ही पैदा होता है। सामाजिक सम्बन्धों में रहते हुए सामाजिक इंसान का व्यवहार। अगर कोई इंसान किसी वस्तु को जानना चाहता हो तो उसको वस्तु के वातावरण में आना ही होगा। कोई भी विद्वान किसी वस्तु या प्रक्रिया का ज्ञान घर बैठे नहीं प्राप्त कर सकता है। हालाँकि आज के वैज्ञानिक तथा इण्टरनेट के युग में यह बात चरितार्थ लगती है कि विद्वान सचमुच ही घर बैठे-बैठे कम्प्यूटर पर क्लिक करके ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु सच्चा व्यक्तिगत ज्ञान उन्हीं लोगो को प्राप्त होता है जो व्यवहार में लगे होते

हैं। यह ज्ञान विद्वानों तक (लेखन तथा तकनीक द्वारा) तभी पहुँचता है जब व्यवहार में लगे लोग वह ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए मानव ज्ञान के दो भाग होते हैं – प्रत्यक्ष ज्ञान व अप्रत्यक्ष ज्ञान। अप्रत्यक्ष ज्ञान दूसरों के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस तरह सम्पूर्ण ज्ञान भी सामाजिक होता है। यह मुख्यत: इंसान की उत्पादक कार्यवाही पर निर्भर करता है।

इंसान की उत्पादन कार्यवाही

मनुष्य का ज्ञान उसकी उत्पादन की कार्यवाही पर निर्भर करता है। उत्पादन कार्यवाही से तात्पर्य इंसान की उसके खाना ढूँढ़ने तथा बनाने की कार्यवाही, रहने के लिए घर, कपड़ों तथा जीवन के लिए ज़रूरी अन्य उत्पादन से है। इंसान की इन ज़रूरतों या संक्षेप में जीवन के संघर्ष से ही उत्पादन कार्यवाही निर्धारित होती है। खाद्य संग्रह व शिकार द्वारा प्राक् मानव अपना खाना जुटाता था। इस दौरान उसने पत्थरों से, फिर धातुओं से हथियार बनाये। शिकार के दौरान ही उसने भाला, तीर-धनुष हथगोला आदि हथियार विकसित किये। इसी दौरान इंसान ने भौतिकी के यान्त्रिकी व गतिकी की शाखा का आधार रखा। जानवरों को डराने तथा खुद को गर्म रखने के लिए इंसान ने आग की शक्ति पर क़ाबू किया। शिकार में कुशलता (Efficiency) के लिए भाषा ईजाद की। शिकार के जानवरों, कन्द-मूल के पेड़-पौधों के गुणों का उसने अध्ययन किया। गुफाओं में आज भी जानवरों के झुण्डों व उनकी तमाम गतिविधियों के चित्र मिलते हैं। यही आगे चलकर जीव-विज्ञान का आधार बना। प्रकृति की नक़ल करके ही लम्बी प्रक्रिया में खेती की कला सीखी गयी।

खेती के लिए खेत के बँटवारे के चलते ज्यामिति विज्ञान विकसित हुआ। फ़सल व अन्य महत्त्वपूर्ण उत्पादन प्रणाली को विकसित करते हुए उसने ज्ञान को नये आयाम दिये। जानवरों को सिर्फ़ खाने के अलावा यातायात व खेती के लिए भी इस्तेमाल किया जाने लगा। बैलगाड़ी में से बैल को हटाकर ईंजन आया था। आधुनिक विज्ञान ने भी तमाम सामाजिक चेतना व सामाजिक तर्कों से ऊर्जा प्राप्त की। नृत्य, संगीत तथा गायन की कला जादुई विश्व-दृष्टिकोण के युग के उत्सवों से निकलते हुए अलग कला के रूपों में स्थापित हुई। उस दौर के ये उत्सव भी उत्पादन को बढ़ाने के लिए किये जाते थे। मूल बात यह है कि ज्ञान की हर शाखा का उद्भव उत्पादन की कार्यवाही में हुआ है। उत्पादन कार्यवाही के अलावा सामाजिक स्तर पर वर्ग-संघर्ष एवं सामाजिक क्रान्तियाँ भी ज्ञान को गहराई से प्रभावित करते हैं।

वर्ग-संघर्ष

इंसान का पिछले 4,000 सालों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। समाज में इंसानों के उत्पादन सम्बन्ध वर्गों पर आधारित सामाजिक सम्बन्ध हैं। विभिन्न रूपों में वर्ग-संघर्ष ने मानव-ज्ञान के विकास पर गहरा प्रभाव डाला है। वर्ग समाज में रहते हुए इंसान किसी न किसी वर्ग के सदस्य के रूप में जीता है और बिना किसी अपवाद के प्रत्येक विचारधारा पर किसी न किसी वर्ग की छाप होती है। भारत का इतिहास खुद इसका बड़ा उदाहरण है। मनुस्मृति, उपनिषद्, गीता आदि में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों, शासन करने वाले वर्गों का पक्ष रखा गया है। इसके प्रतिरोध में खड़ा चार्वाक दर्शन शोषितों का दर्शन है। प्लेटो का रिपब्लिक राज्य के प्रति वफ़ादार है और उसका गुलामों से कोई मतलब नहीं है। पुनर्जागरण काल में हर ज्ञान क्षेत्र में, कला में, विज्ञान में, सामन्तवाद-विरोधी तत्व मौजूद हैं तथा नये सृजन, नये बुर्जुआ वर्ग की वैज्ञानिक ज़रूरत के अनुरूप था। रूस और चीन में समाजवाद के प्रयोगों के दौरान और क्रान्ति से पहले प्रतिरोध और क्रान्ति की संस्कृति ने पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग के विरोध में ही रूप ग्रहण किया। प्राय: ज्ञान के क्षेत्र के रूप तथा विकास को वर्ग-संघर्ष निर्धारित करता है।

वैज्ञानिक प्रयोग

सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रयोगों का मतलब सामाजिक क्रान्तियों व जन-संघर्षों और विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले नये आविष्कारों से है। इस दौरान मानवीय चेतना का स्तर छलाँग लगाकर ऊँचा उठ जाता है। मानव ज्ञान नये स्तरों तथा संज्ञान के नये धरातल पर पहुँच जाता है, सामाजिक सम्बन्धों में हुआ बदलाव मानव चेतना पर प्रतिबिम्बित होता है। सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण के दौरान हुई सामाजिक क्रान्तियों ने सम्पूर्ण विश्व का नक्शा बदल दिया। सदियों के बन्धन एक झटके में टूट गये। पुनर्जागरण-धार्मिक सुधार-प्रबोधन के पूरे दौर में परिवर्तन और प्रगति की रोशनी से सारा यूरोप झिलमिल हो उठा। औद्योगिकीकरण इसी संघर्ष के दौरान उत्पन्न हुआ। स्टीम इंजन, धरती का गोल होना, उद्विकास का नियम, ब्रह्माण्ड का असल रूप, कोशिका की खोज आदि वैज्ञानिक खोज व बीथोवन, बाक़, मोज़ार्ट, डा विंची, माइकलेंजेलो, वाल्तेयर, दिदेरो जैसे महान बुद्धिजीवी, दार्शनिक, कलाकार, वैज्ञानिक और संगीतकार भी इसी उथल-पुथल भरे समय की उपज थे। 1917 में हुई रूस की समाजवादी क्रान्ति ने सदियों से पिछड़े रूस को दुनिया के विकसित देशों की क़तार में खड़ा कर दिया (जो एक मायने में उनसे भिन्न था : यहाँ का विकास करोड़ों मेहनतकशों के शोषण पर नहीं, बल्कि उनके साझे मालिकाने और निर्णय शक्ति पर टिका था) व महाशक्ति सोवियत रूस बना दिया। मज़दूरों के अधिनायकत्व में सोवियत रूस विज्ञान, कला, दर्शन हर मायने में नये-नये सृजन करने लगा तथा खुद जनता के बड़े हिस्से ने इसमें भागीदारी भी ली थी। ये वैज्ञानिक प्रयोग ही हैं जो विज्ञान, कला को सदियों के बन्धन से मुक्त कर सृजनात्मकता के अनन्त आसमान में नयी ऊँचाइयाँ छूने की ऊर्जा देते हैं। परन्तु व्यवहार के द्वारा मानव ज्ञान उत्पन्न कैसे हुआ? आइये ज्ञान के विकास की प्रक्रिया पर एक नज़र दौड़ा लेते हैं।

इन्द्रियग्राह्य–बुद्धिसंगत ज्ञान तथा व्यवहार

व्यवहार की प्रक्रिया में इंसान भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखता है, उनके भिन्न पहलुओं, बाह्य सम्बन्धों को देखता है। यहाँ उदाहरण के लिए हम अपने देश के भिन्न आँकड़ों, बातचीत व आसपास की परिस्थितियों को देखते हैं। यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति, आवासीय स्थिति देखते हैं, व्यापक स्तर पर लोगों से बातचीत करते हैं व राजनीतिक पार्टियों के दस्तावेज़ पढ़ते हैं; देश का आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक अध्ययन करते हैं; यह सब पूरे देश की जनता के जीवन, यहाँ के समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति के हालात का चित्र प्रस्तुत करते हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त होने वाला आनुभविक ज्ञान है जो यथार्थ का प्रत्यक्ष रूप हमारे सामने रखता है। इसे ज्ञान की इन्द्रियग्राह्य मंज़िल कहते हैं, यह इन्द्रिय संवेदनाओं और संस्कारों की मंज़िल है। इस देश की विशिष्ट भौतिक परिस्थिति तथा उनके रूप हमें प्रभावित करते हैं। ये संवेदनाओं को जन्म देते हैं और दिमाग़ में बहुत से संस्कार छोड़ देते हैं। यह बिखरे हुए संवेदनों/अनुभवों/चित्रों का एक समुच्चय होता है। अभी हमने इनके आपसी सम्बन्धों, प्रकृति और चरित्र को नहीं समझा होता है। न ही हम इनके बारे में कोई सार्वभौमिक या सामान्य बयान दे सकते हैं। अभी यह अनुभवों और संवेदनों का एक अव्यवस्थित समुच्चय मात्र होता है। यह ज्ञान प्राप्ति की पहली मंज़िल होती है। जब सामाजिक व्यवहार की प्रक्रिया आगे चलती है, ये अनुभव बार-बार दोहराये जाते हैं। अनुभवों के बार-बार दोहराये जाने से हमारा मस्तिष्क अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया से इन अनुभवों का सामान्य सूत्रीकरण करने लगता है। यहाँ हमारी ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में एक आकस्मिक छलाँग लगती है और हमारे मस्तिष्क में धारणाओं का निर्माण होता है। ये धारणाएँ वस्तुओं के बाह्य सम्बन्ध नहीं रह जातीं, ये वस्तुओं के सारतत्व, समग्रता तथा आन्तरिक सम्बन्धों तक जाती हैं। धारणाओं तथा इन्द्रियग्राह्य ज्ञान में गुणात्मक भेद होता है। यह ज्ञान प्राप्ति की दूसरी मंज़िल है। जब हम अपने देश की आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन कर लेते हैं तथा अनुभव से दोनों का मिलान करते हैं तो यह निर्णय कर पाते हैं कि यहाँ हर वस्तु बिकने योग्य है, बाज़ार की ताक़त अर्थव्यवस्था को चलाती है, इंसान की मेहनत, रोटी, कपड़ा और मकान से लेकर फूल तथा पहाड़ भी बिकाऊ हैं। हमारा समाज वर्गों के आधार पर बँटा है। सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पूँजीवादी है, जिसमें हर चीज़ का आधार मुनाफ़ा और फ़ायदा है। उत्पादन की प्रेरक शक्ति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं बल्कि निजी मुनाफ़ा है। कुछ मुट्ठी भर पूँजीपति व उनकी चाकरी करने वाले नौकरशाह आम मेहनतकश मज़दूरों की मेहनत पर ही अपने लिए अय्याशी के अड्डे खड़े कर पाते हैं। मज़दूरी की लूट को जारी रखने के लिए पूरा तन्त्र, मीडिया, सेना व पुलिस उनकी सेवा में हाज़िर है। यह किसी भी वस्तु या परिघटना के ज्ञान की प्रक्रिया में धारणा, निर्णय व तर्क की मंज़िल है। यह बुद्धिसंगत ज्ञान की मंज़िल है। ज्ञान का वास्तविक कार्य इस मंज़िल तक पहुँचना है; वास्तविक वस्तुओं के आन्तरिक अन्तरविरोधों, नियमों और विभिन्न प्रक्रियाओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ लेना है। तर्कसंगत ज्ञान वस्तुओं का उसके वातावरण के साथ अन्तर्विरोध तथा उसके सारतत्व तक जाता है। तर्कसंगत ज्ञान सम्पूर्ण विश्व के इतिहास तथा विकासक्रम को समग्र तथा विशिष्ट रूपों में भी ग्रहण करने में समर्थ होता है।

ज्ञान विकास का यह सिद्धान्त पहली बार मार्क्सवाद ने दिया था। इसे ज्ञान का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त कहते हैं। यह पूरी तरह व्यवहार पर आधारित होता है। माओ ने कहा था कि – "इन्द्रियग्राह्य ज्ञान और बुद्धिसंगत ज्ञान के बीच गुणात्मक अन्तर होता है, लेकिन वे एक-दूसरे से अलग नहीं होते, व्यवहार के आधार पर उनमें एकता क़ायम होती है।" रसायनविज्ञान में फलोगिस्तीन से आक्टेट थ्योरी से मोलिक्यूलर ऑरबिटल थ्योरी तक विकास इसी प्रक्रिया को दर्शाता है। ज्योतिष से खगोलशास्त्र बनने की प्रक्रिया, भौतिकी में इथर थ्योरी से सापेक्षिकता सिद्धान्त तक विकास, विज्ञान की हर शाखा में हम इन्द्रियग्राह्य ज्ञान को तर्कसंगत ज्ञान में बदलते हुए देखते हैं। जापान के भौतिकी के मार्क्सवादी वैज्ञानिक **ताकेतानी** ने इसी सिद्धान्त पर आधारित थ्री स्टेज थ्योरी दी है। जादू की आदिम अवस्था से धर्म व विज्ञान में बदलाव भी इन्द्रियग्राह्य ज्ञान से बुद्धिसंगत ज्ञान के विकास को दिखलाता है। इस विषय पर हम आगे विज्ञान के स्तम्भ में अवश्य लिखेंगे।

ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया के क्रम में इन्द्रियग्राह्य ज्ञान के बाद ही तर्कसंगत ज्ञान आता है। पहले इंसान किसी भी वस्तु का इन्द्रिय संवेदन ज्ञान हासिल करता है। बुद्धिमान से बुद्धिमान इंसान जंगल में बैठकर अवधारणा नहीं सृजित कर सकता, जो कि वास्तविक ज्ञान है। ज्ञान व्यवहार से पैदा होता है – ज्ञान सिद्धान्त का भौतिकवाद यही है। ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया इन्द्रियग्राह्य ज्ञान से तर्कसंगत ज्ञान तक आगे बढ़ती है। यह ज्ञान प्रक्रिया का द्वन्द्ववाद है। पर यह प्रक्रिया यहाँ आकर भी रूक नहीं जाती। ज्ञान सिर्फ़ प्रक्रियाओं तथा वस्तुओं के ठोस रूप तथा उनके आन्तरिक सम्बन्ध जानने तक नहीं जाता। ज्ञान व्यवहार से शुरू होता है और उसे फिर व्यवहार के पास वापस लौट आना होता है। इन्द्रियग्राह्य ज्ञान व्यवहार से पैदा होता है जो पुनरावृत्ति और विवेक से तर्कसंगत ज्ञान तक पहुँच जाता है। विवेक और तर्कशक्ति से आनुभविक ज्ञान से निकली अवधारणाओं का सत्यापन व्यवहार के दौरान होता है। हम समाज की पूँजीवादी तथा वर्ग समाज की व्याख्या तक पहुँचने के बाद, तथा यह जानने के बाद कि यह सामाजिक बदलाव मज़दूर वर्ग के द्वारा ही सम्भव है, जब समाज को बदलने व्यवहार के धरातल पर उतरते हैं तो पहले तो हमारी धारणा पुख्ता हो जाती है। पर कुछ नये सवाल भी खड़े हो जाते हैं। नया व्यवहार नये इन्द्रियग्राह्य ज्ञान को जन्म देता है, जिसमें से कुछ पुराने व्यवहार से जन्मे अवधारणात्मक ज्ञान को पुष्ट करते हैं तो कुछ उसमें संशोधन या परिवर्तन की माँग करते हैं। इस प्रकार व्यवहार एक बार फिर से अवधारणात्मक ज्ञान को उन्नत करता है।

उन्नत अवधारणात्मक ज्ञान को पुष्टि के लिए फिर से व्यवहार तक ही आना होता है। अपुष्टि वास्तव में अवधारणात्मक ज्ञान के विकास की प्रेरक शक्ति होती है। यह असफलता एक प्रकार की रिडेम्प्टिव प्रक्रिया होती है, जिसके ज़रिये ज्ञान सतत् विकासमान होता है। यानी, व्यवहार–सिद्धान्त–व्यवहार –सिद्धान्त.... यही है द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी ज्ञान सिद्धान्त।

ज्ञान : सापेक्ष व निरपेक्ष

ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया सम्पूर्णता तथा असम्पूर्णता के बीच अन्तर्विरोधपूर्ण होती है। चिन्तन में वस्तुगत प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित कर इंसान अपने ज्ञान को इन्द्रियग्राह्य तथा बुद्धिसंगत ज्ञान के क्रम में विकसित करता है तथा व्यवहार में यह सतत् उन्नत धरातलों पर पहुँचता जाता है। वास्तविकता के अनुरूप किये गये प्रयोग हमारी ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया के एक चरण को पूरा करते हैं। हम पूर्वकल्पित धारणाओं के अनुरूप प्रयोग को वस्तुगत रूप देते हैं। परन्तु कई बार ऐसा होता है कि सिद्धान्त सच्चाई को अधूरा या ग़लत ढंग से निरूपित करते हैं। यह सिर्फ़ हमारी वैज्ञानिक एवं तकनोलॉजिकल सीमा के कारण नहीं बल्कि वस्तुगत प्रक्रिया के विकास पर भी निर्भर करता है। यह इस पर भी निर्भर करता है कि वस्तुगत प्रक्रिया अपने को किस हद तक प्रकट करती है। इसके अनुसार, वस्तुगत प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के अनुसार हमें ज्ञान को फिर से ठीक करना होता है। जहाँ तक प्रक्रिया की प्रगति का ताल्लुक है, इंसान की ज्ञान प्रप्ति पूरी नहीं होती है। अगर और ठोस रूप में कहें तो "विश्व के विकास की निरपेक्ष और आम प्रक्रिया में प्रत्येक ठोस प्रक्रिया का विकास सापेक्ष होता है तथा इसलिए निरपेक्ष सत्य की अनन्तधारा में विकास की हर विशेष मंज़िल पर ठोस प्रक्रिया का मानव ज्ञान सापेक्ष रूप में सत्य होता है।" (माओ)

इसका सीधा मतलब है कि विश्व में परिवर्तन की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती है। इंसान के दिमाग़ में पैदा हुआ भौतिक जगत का प्रतिबिम्बन ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा सीमित होता है तथा उस इंसान की भौतिक व दिमाग़ी क्षमता पर भी निर्भर करता है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं होता कि विश्व में सारे सत्य सापेक्ष हैं तथा ये अराजकतापूर्ण तौर पर संसार में पैदा होते हैं। जैसा कि लेनिन ने कहा है, "अनगिनत सापेक्ष सत्यों का समुच्चय ही निरपेक्ष होता है।" दिक् व काल में अलग इंसानों द्वारा सम्प्रेषित सत्य एक-दूसरे से जुड़कर निरपेक्ष सत्य बनाते हैं जो खुद भी सामाजिक विकास के साथ विकसित तथा गहन होता जाता है। अन्तरविरोध की सार्वभौमिकता निरपेक्ष है। इंसान द्वारा सत्य को प्राप्त करने की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। क्वाण्टम भौतिकी का सिद्धान्त "अनसर्टेनिटी प्रिंसिपल' (अनिश्चितता का सिद्धान्त) यही स्थापित करता है, हालाँकि इसे प्रतिपादित करने वाले वर्नर हाइज़ेनबर्ग स्वयं इसकी एक अज्ञेयवादी नवकाण्टीय व्याख्या करते हुए इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि वस्तुगत यथार्थ नामक कोई चीज़ नहीं होती और कि प्रेक्षक ही यथार्थ का निर्माता है। लेकिन चूँकि विज्ञान किसी नवकाण्टीय अज्ञेयवादी के प्रेक्षण की निर्मिति नहीं है, इसलिए अनिश्चितता के सिद्धान्त का एक सही विश्लेषण हमें दिखला देता है कि यह सिर्फ़ ज्ञान प्राप्ति के सापेक्षता के पहलू को उजागर करता है और इसके ज़रिये ज्ञान की सतत् गतिशीलता पर बल देता है। अनिश्चितता सिद्धान्त के मार्क्सवादी विश्लेषण और व्याख्या के लिए रुचि रखने वाले पाठक ताकेतानी, सकाता और युकावा नामक जापानी वैज्ञानिकों के आधुनिक भौतिकी पर लेखन को पढ़ सकते हैं। इसके अलावा भी विश्व के कई देशों के मार्क्सवादी वैज्ञानिकों ने अनिश्चितता के सिद्धान्त को मार्क्सवाद के सामान्य सिद्धान्तों की पुष्टि के रूप में प्रदर्शित किया है। हर नये प्रयोग के साथ हमारे प्रेक्षण (observation) गहरे होते हैं। अनिश्चितता की समस्या वास्तव में ताकेतानी के शब्दों में प्रेक्षण की समस्या है। आज मानवीय प्रेक्षण का स्तर जिस धरातल पर है उस धरातल पर सूक्ष्म विश्व की कई चीज़ों का हम सटीक तौर पर निर्धारण नहीं कर सकते। लेकिन भविष्य में ये प्रेक्षण और उन्नत होगा और गहरे धरातलों पर जायेगा। उस समय पुरानी अनिश्चितताएँ निश्चितताओं में तब्दील हो जायेंगी। लेकिन तब तक अनिश्चितता का एक नया क्षितिज उजागर हो चुका होगा। विज्ञान के पास हमेशा कुछ अनुत्तरित प्रश्न रहेंगे। क्योंकि विज्ञान धर्म नहीं होता। यह द्वन्द्वात्मक रूप से सतत् गतिमान व्यवस्थित विशिष्ट ज्ञान का समुच्चय है। धर्म एक भी सही प्रश्न नहीं पूछता, इसलिए उसके पास हर प्रश्न का जवाब होता है! विज्ञान सही प्रश्न पूछता है इसलिए वह कभी सभी प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। वह जितने प्रश्नों का उत्तर देता है, उन उत्तरों से ही वह नये प्रश्नों को खड़ा भी करता है। यह एक सतत् अन्तहीन प्रक्रिया है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए ठोस अध्ययन

मार्क्स ने कहा था कि "विज्ञान में कोई सीधा-सपाट रास्ता नहीं है। प्रतिभा के शिखर पर केवल वही पहुँच सकते हैं जो सीधे खड़े पहाड़ी रास्तों पर चढ़ने में डरते नहीं है।" यह कथन मार्क्सवाद के कर्म सिद्धान्त, ज्ञान सिद्धान्त की मूलवस्तु है। ज्ञान को एकांगी या छिछले ढंग से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। न अनुभवादी या विज्ञानवादी तरीक़े से प्राप्त किया जा सकता है। यह सिर्फ़ व्यवहार तथा सिद्धान्त के तालमेल, ईमानदारी, विनम्रता, धैर्य तथा हिम्मत की माँग करता है। इसके इतर कोई भी रास्ता हमें अहंवाद, कठमुल्लावाद तथा अनुभववाद के गड्ढे में ले जाता है। यह कठोर अध्ययन की माँग करता है। हर वस्तु में निहित अन्तरविरोध को जानना होता है। अन्तरविरोध को विशिष्ट तथा सार्वभौमिक रूप में पहचानने की ज़रूरत होती है। सबसे पहले विशिष्ट का अध्ययन करते हुए हमें वस्तु-विशेष के अन्तरविरोध के दोनो पहलू को समझना होता है। वस्तु के विकास की प्रक्रिया में मौजूद अन्तरविरोध के दोनों पहलुओं को चिह्नित करना होता है। वस्तु के विकास की प्रक्रिया की मंज़िल के अन्तरविरोध को चिह्नित करना होता है तथा मंज़िल के अन्तरविरोध के दोनों पहलुओं को समझना होता है।

यहाँ हम किसी अकादमिक या किताबी ज्ञान की बात नहीं कर रहे हैं; न ही हम यहाँ महज़ बेहद विशेषीकृत विज्ञान की शाखाओं की बात कर रहे हैं। हम यहाँ आमतौर पर मानव ज्ञान की बात कर रहे हैं। एक समाज वैज्ञानिक के तौर पर हमें समाज के भी मूल अन्तरविरोधों की पहचान करनी चाहिए, उनके दोनों पहलुओं की पहचान करनी चाहिए और उनके आधार पर समाज के बारे में अपने ज्ञान को विकसित करना चाहिए। इस प्रक्रिया से विकसित ज्ञान ही वापस पलटकर समाज को बदल सकता है। आज मुनाफ़े और लूट पर टिके पूँजीवादी समाज को भी अगर बदलकर किसी नये समतामूलक, अन्यायमुक्त समाज की रचना करनी है, तो हमें मौजूदा समाज का एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अध्ययन करना होगा। चूँकि ज्ञान व्यवहार से पैदा होता है, इसलिए हमें व्यवहार में उतरना होगा। आज के समाज के बारे में भी हम सिर्फ़ पुस्तकालयों में बैठकर और किताबों का अध्ययन करके नहीं जान सकते। हमें सामाजिक व्यवहार में प्रत्यक्षत: उतरना होगा।

सन्दर्भ सूची :

1. माओ त्से-तुङ, *दर्शन विषयक पाँच निबन्ध*
2. व्लादिमीर इल्यीच लेनिन, *अनुभव सिद्ध आलोचना एवं भौतिकवाद*
3. फ्रेडरिक एंगेल्स, *प्रकृति का द्वन्दवाद*
4. फ्रेडरिक एंगेल्स, *ड्यूरिंग मत खण्डन*
5. जे.डी. बरनाल, *साइंस इन हिस्टरी*
6. गॉर्डन चाइल्ड, *वॉट हेपण्ड इन हिस्टरी*
7. *बृहदारण्यक उपनिषद*
8. जी.जी. थामसन, *मानवीय सारतत्व*
9. मित्सूओ ताकेतानी, *प्रोग्रेस इन थ्योरेटिकल फ़िजिक्स*, खण्ड–50,
10. देनी दिदेरो, *दालम्बेर का सपना*

(पेज 8 से आगे)

पश्चिम बंगाल : भारतीय वामपन्थ का संकट या संशोधनवादी सामाजिक फ़ासीवाद से खुले प्रतिक्रियावादी पूँजीवाद की ओर संक्रमण?

समर्थक और वर्ग सहयोग की जगह पूँजी के वर्ग प्रभुत्व के समर्थक हो चुके थे। यह पश्चिम बंगाल के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास का राज्य की संशोधनवादी राजनीति में प्रतिबिम्बन ही था।

वाम मोर्चे की नीतियों के निशाने पर अब सीधे तौर पर ग़रीब किसान और मज़दूर आबादी थी और इसके बारे में वाम मोर्चे की सरकार किसी भी रूप में माफ़ी माँगने की मुद्रा में नहीं थी। इन नीतियों को खुले तौर पर फ़ासीवादी तरीक़े से लागू किया जा रहा था। जो वर्ग इन नीतियों के प्रमुख लाभप्राप्तकर्ता थे, वे थे धनी किसान, बड़े और मँझोले पूँजीपति और शहरों का खाता-पीता पेशेवर मध्यवर्ग। पिछले दो दशकों में पश्चिम बंगाल धनी पूँजीवादी किसानों के एक ऐसे वर्ग के उदय का साक्षी बना है जो अपनी पूँजी का वैविध्यीकरण करना चाहता है और विशेष रूप से रियल एस्टेट में पूँजी लगाना चाहता है। इस काम में माकपा-नीत वाम मोर्चा सरकार ने राज्य के सभी उपकरणों और अपने काडरों का उपयोग करके इस वर्ग की जमकर सहायता की है। पश्चिम बंगाल में माकपा को रियल एस्टेट एजेण्टों की पार्टी के तौर पर भी जाना जाता है। दूसरी तरफ़, ग़रीब किसानों से जबरन ज़मीन छीनकर कारपोरेटों के हाथों में सौंपकर माकपा कारपोरेट पूँजीपति घरानों की भी चहेती बन गयी। संक्षेप में कहें तो धनी पूँजीवादी फ़ार्मरों और कारपोरेट पूँजी के हितों की पूर्ति के लिए माकपा ने पूँजी की तानाशाही को जिस नग्न रूप में लागू किया, वह किसी भी रूप में गुजरात में नरेन्द्र मोदी की सरकार से प्रतिस्पर्द्धा कर सकती थी।

ममता बनर्जी की सरकार इस पूरे काम को ही एक दूसरी तरह से अंजाम देने वाली है। नीतियों में कोई भी फ़र्क़ नहीं आना है। मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों पर पूँजी की तानाशाही को लागू करने की पूरी प्रक्रिया में प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप को कम कर अब मुक्त बाज़ार के स्मिथीय "प्रच्छन्न हस्त गतिकी" का इस्तेमाल किया जायेगा जो शुरू में किसी *ऑप्टिकल इल्यूज़न* को पैदा कर सकता है। लेकिन जल्द ही यह भ्रम दूर हो जायेगा। और कालान्तर में जहाँ-जहाँ निजी पूँजी की सौदेबाज़ी इस "प्रच्छन्न हस्त गतिकी" से सफल नहीं होगी, वहाँ-वहाँ ममता बनर्जी की सरकार अपने किसान-समर्थन उदार मुखौटे को उतारकर वैसा ही व्यवहार करेगी जैसा कि कोई भी पूँजीवादी सरकार करती है। एक मायने में यह परिवर्तन बेहद अच्छा है। यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारियों के कई भ्रमों को साफ़ करेगा। यह एक दीगर बात है कि इन भ्रमों से छुटकारा काफ़ी क़ीमत चुकाकर मिलेगा।

आमन्त्रण

तृतीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी

भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन : दिशा, समस्याएँ, और चुनौतियाँ

22-23-24 जुलाई, 2011, लखनऊ (उ.प्र.)

आयोजक

अरविन्द स्मृति न्यास

लखनऊ

प्रिय साथी,

अपने अनन्य सहयात्री दिवंगत **का. अरविन्द** की स्मृति में इसं बार **तीसरी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी** का आयोजन हम उत्तर प्रदेश की राजधानी **लखनऊ** में कर रहे हैं। सामयिकता और प्रासंगिकता की दृष्टि से इस बार तीन दिवसीय अखिल भारतीय संगोष्ठी का विषय रखा गया है : **'भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन : दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ।'**

हमारे मेधावी-ऊर्जस्वी युवा साथी अरविन्द के निधन से भारत के मज़दूर आन्दोलन, सांस्कृतिक आन्दोलन और वैकल्पिक जन-मीडिया आन्दोलन को अपूरणीय क्षति पहुँची। **अरविन्द स्मृति न्यास** और **अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान** की स्थापना उनकी स्मृति को संकल्प में ढालने और शोक को शक्ति में बदलने का विनम्र, साझा प्रयास है। प्रथम और द्वितीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठियाँ *(जुलाई 2009, दिल्ली और जुलाई 2010, गोरखपुर)* भूमण्डलीकरण के दौर में भारतीय मज़दूर आन्दोलन की दिशा, सम्भावनाओं, समस्याओं और चुनौतियों पर केन्द्रित थीं।

इस बार तीन दिनों की संगोष्ठी भारत में जनवादी अधिकार एवं नागरिक स्वतन्त्रता आन्दोलन की दशा-दिशा, समस्याओं, चुनौतियों और सम्भावनाओं पर केन्द्रित होगी। इस विषय की दीर्घकालिक एवं साम्प्रतिक महत्ता और प्रासंगिकता स्वतः स्पष्ट है। यह सवाल पहले से ही उठाया जाता रहा है कि भारतीय संविधान आम जन को जो सीमित जनवादी अधिकार देता है, उनके अपहरण एवं स्थगन के प्रावधान भी इस संविधान के भीतर ही मौजूद हैं। सवाल यह भी बहुत पुराना है कि बहुतेरे आयोगों-कमेटियों की सिफ़ारिशों और कुछ रंग-रोगनों तथा पैबन्दसाज़ियों के बावजूद, क़ानून-व्यवस्था और पुलिस एवं नागरिक प्रशासन के ढाँचे पर औपनिवेशिक अतीत का प्रेत आज भी सवार है। ऐसे में संविधान से नीचे रिसने वाले अति सीमित जनवादी अधिकार भी क़ानून-व्यवस्था और नौकरशाही के मकड़जाल में उलझकर रह जाते हैं। संवैधानिक उपचार तक केवल समाज के मुखर, शिक्षित और आर्थिक रूप से सक्षम तबक़े की ही पहुँच होती है। आम जनता को सिर्फ़ क़ानूनी उपचार ही नसीब होता है और वह भी लालफ़ीताशाही और भ्रष्टाचार के कारण काफ़ी हद तक रस्मी बनकर रह जाता है। लाखों की तादाद में दसियों-बीसियों सालों से लम्बित मुक़दमे, दसियों सालों से जेलों में बन्द विचाराधीन क़ैदी, फ़र्ज़ी मुठभेड़ें, टॉर्चर, राजनीतिक बन्दियों के अधिकारों का अपहरण, पुलिसिया स्वेच्छाचारिता – ये सारी बातें सभी जानते हैं।

प्रायः कुछ समाजविज्ञानी यह कहते रहे हैं कि साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद किये बिना और क्रान्तिकारी ढंग से भूमि सम्बन्धों को बदले बिना जनता को सच्चे अर्थों में सम्प्रभु और जनवादी अधिकार-सम्पन्न बना पाना सम्भव ही नहीं था। यह सचमुच इतिहास का एक विचारणीय मुद्दा है। सवाल यह भी है कि जिस समाज में राजनीति एवं सभी सार्वजनिक मामलों से धर्म के पूर्ण पृथक्करण के रूप में सेक्युलरिज़्म को स्थापित नहीं किया जायेगा, उस समाज में क्या धार्मिक अल्पसंख्यकों और दलित जातियों के जनवादी अधिकार कभी सुरक्षित रह सकेंगे!

यह अनायास नहीं है कि उदारीकरण-निजीकरण के गत बीस वर्षों के दौरान केन्द्र और राज्यों के स्तर पर निरंकुश काले क़ानूनों की संख्या तेज़ी से बढ़ी है, पुलिस एवं नागरिक प्रशासन का चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा निरंकुश स्वेच्छाचारी होता चला गया है। व्यापक जनता की आर्थिक दुरवस्था बढ़ने के साथ ही उसके न्यूनतम जनवादी अधिकार भी छिनते जा रहे हैं। प्राकृतिक संसाधनों और सस्ती श्रम-शक्ति के लिए आदिवासी और अन्य ग़रीब लोग बन्दूक़ की नोक पर अपनी जगह-ज़मीन से उजाड़े जा रहे हैं और जनाक्रोश को दबाने के लिए "आतंकवाद" और "माओवाद" के दमन के नाम पर देश के बहुतेरे इलाक़ों में सरकार ने देश की जनता के विरुद्ध ही अघोषित युद्ध छेड़ रखा है। यहीं पर इस तथ्य को भी रेखांकित कर दिया जाना ज़रूरी है कि कश्मीर और उत्तर-पूर्व के जिन राज्यों में दशकों से 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम' लागू है वहाँ आम लोग व्यवहारतः सैनिक शासन के अन्तर्गत जी रहे हैं। उनके लिए संविधान-प्रदत्त जनवादी अधिकारों का कोई मतलब नहीं है।

विगत क़रीब ढाई दशकों का समय ही धार्मिक कट्टरपन्थी, विशेषकर हिन्दुत्ववादी शक्तियों के उभार का और विभाजन के बाद के सर्वाधिक भीषण साम्प्रदायिक दंगों और नरसंहार का दौर रहा है। यह अनायास नहीं है। आर्थिक अनुदारवाद (कथित नवउदारवाद) ने धार्मिक-नस्ली-जातीय अनुदारवाद के लिए उर्वर ज़मीन तैयार की है। समाज का रहा-सहा जनवादी स्पेस भी विगत दो दशकों के दौरान तेज़ी से सिकुड़ा है और कमज़ोर तबक़ों पर इसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय सामाजिक ताने-बाने में जाति और जेण्डर के आधार पर पहले से जो निरंकुश उत्पीड़क प्रवृत्तियाँ मौजूद रही हैं, उनके विरुद्ध हालाँकि प्रतिरोध के स्वर मुखर हुए हैं, लेकिन पूँजी की नयी मानवद्रोही संस्कृति ने उन्हें नयी ताक़त और नये रूप देने का काम भी किया है।

❑

इस संगोष्ठी में जनवादी अधिकार और नागरिक आज़ादी के लिए संघर्षरत बुद्धिजीवियों — विधिवेत्ताओं, अकादमीशियनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, लेखकों, मीडियाकर्मियों और संस्कृतिकर्मियों के साथ हम उपरोक्त स्थितियों पर

विचार-विमर्श करना चाहते हैं, जनवादी अधिकार आन्दोलन से जुड़े जीवन्त-ज्वलन्त प्रश्नों-समस्याओं को चर्चा एवं बहस के केन्द्र में लाना चाहते हैं और आज की स्थिति से उपजी चिन्ताओं को साझा करना चाहते हैं।

● *जनवादी अधिकारों और नागरिक अधिकारों को बचाने की लड़ाइयाँ देश के विभिन्न कोनों में चलती रही हैं, लेकिन ये सब काफ़ी बिखरी हुई और नाकाफ़ी हैं, इससे शायद ही कोई इंकार करे। प्रगतिशील, सेक्युलर, जनवादी अधिकारों के प्रति समर्पित बुद्धिजीवियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं की तादाद इतनी बड़ी है कि अगर वे एकजुट होकर आवाज़ उठायें तो एक ताक़त बन सकते हैं। लेकिन कड़वी सच्चाई यह है कि जनवादी अधिकारों पर लगातार बढ़ते जा रहे हमलों का जवाब आज पहले से भी कम प्रभावी ढंग से दिया जा पा रहा है। देश के विभिन्न हिस्सों में पहले की अपेक्षा आज संख्या में कहीं अधिक जनवादी अधिकार संगठन मौजूद हैं। जनवादी अधिकार आन्दोलन की प्रकृति एवं दिशा को लेकर उनके बीच कुछ सैद्धान्तिक असहमतियाँ हो सकती हैं, लेकिन गम्भीर और चिन्तनीय प्रश्न यह है कि राजकीय दमन या काले क़ानूनों के दूरगामी अथवा फ़ौरी महत्त्व के किसी बेहद अहम मुद्दे पर भी वे एकजुट होकर आवाज़ क्यों नहीं उठा पाते? किसी ज्वलन्त सवाल पर देश के जनवादी अधिकार संगठनों का कोई साझा मोर्चा आख़िरकार क्यों नहीं बन पाता है?*

● *इससे कहीं अधिक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य और बुनियादी महत्त्व वाला सवाल यह है कि क्या जनवादी अधिकार आन्दोलन को केवल कुछ याचिकाएँ दाख़िल करने, हस्ताक्षर अभियान चलाने, जाँच टीमें भेजकर रिपोर्टें प्रकाशित करने और प्रतीकात्मक धरना-प्रदर्शन करने जैसी कार्रवाइयों तक ही सीमित रहना चाहिए? क्या हमें ख़ुद से यह सवाल नहीं करना चाहिए कि जनवादी अधिकार आन्दोलन में उन आम लोगों की भागीदारी क्यों नहीं है जिनके जनवादी अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रताओं का रोज़मर्रा के जीवन में क़दम-क़दम पर सबसे अधिक हनन होता है? जनवादी अधिकार आन्दोलन का मतलब प्रबुद्ध लोगों द्वारा आम लोगों के मुद्दों को उठाना मात्र होकर क्यों रह गया है? यह राजनीतिक विरोधियों के सत्ता द्वारा उत्पीड़न, फ़र्ज़ी मुठभेड़ों के विरुद्ध सिर्फ़ प्रतीकात्मक आन्दोलन या क़ानूनी लड़ाई मात्र बनकर क्यों रह गया है? क्या जनवादी अधिकार आन्दोलन को व्यापक सामाजिक आधार वाला जनान्दोलन बनाने की ज़रूरत नहीं है? क्या आम लोगों को उनके जनवादी अधिकारों और नागरिक अधिकारों के प्रति सचेत और जागरूक बनाना तथा अपने जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त एवं विस्तार के लिए उन्हें संगठित करना हमारा बुनियादी कार्यभार नहीं होना चाहिए?*

❑

बेशक, सवाल बहुत बड़े हैं, लेकिन बड़े सवाल भी हमारे सामने इसीलिए उपस्थित होते हैं कि उनके जवाब ढूँढ़े जायें। इस संगोष्ठी से हम इन बुनियादी मुद्दों पर, और इनसे जुड़े कुछ सामयिक एवं ज़रूरी परिधिगत मुद्दों पर, सार्थक विचार-विमर्श की एक विनम्र शुरुआत करना चाहते हैं। हम इस क्षेत्र में काम करने वाले और दिलचस्पी रखने वाले सभी बुद्धिजीवियों — न्यायविदों, अकादमीशियनों, मीडियाकर्मियों, संस्कृतिकर्मियों, लेखकों-कवियों, और सामाजिक कार्यकर्ताओं को इस विचार-विमर्श में शामिल होने के लिए आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर रहे हैं। हमें उम्मीद है कि इन तीन दिनों के दौरान औपचारिक और अनौपचारिक चर्चाओं में हम मिल-बैठकर सोचेंगे तो आगे क़दम बढ़ाने के लिए कुछ बिन्दु निश्चय ही निकलकर सामने आयेंगे।

हमारी कोशिश रहेगी कि जनवादी अधिकार आन्दोलन की दिशा और समस्याओं पर चर्चा के साथ-साथ इनसे जुड़ते हुए दायरे में धार्मिक कट्टरपन्थ, दलितों और स्त्रियों के उत्पीड़न, उत्तर-पूर्व और कश्मीर की जनता के जनवादी अधिकारों के अपहरण, माओवाद के ख़ात्मे के नाम पर राज्यसत्ता द्वारा जनता के विरुद्ध छेड़े गये युद्ध, तरह-तरह के क़ाले क़ानूनों तथा मीडिया और जनवादी अधिकार आन्दोलन जैसे विषयों पर भी कुछ पर्चे पढ़े जायें और चर्चा हो।

अगर आप अपना आलेख/पेपर लेकर आ सकें तो और अच्छा रहेगा। इसकी सूचना हमें 10 जुलाई तक मिल जाये तो बेहतर होगा। यदि आप आलेख भी पहले भेज सकें तो सत्रों की योजना बनाने में हमें आसानी होगी।

हम आपसे इस संगोष्ठी में भागीदारी का हार्दिक आग्रह करते हैं। आप अपने पहुँचने की तिथि, ट्रेन, बस, फ़्लाइट आदि की सूचना नीचे दिये गये किसी भी मोबाइल नम्बर या लैण्डलाइन नम्बर पर दे सकते हैं। कोई भी सूचना देने-लेने का काम आप नीचे दिये ईमेल पतों पर भी कर सकते हैं। हम आपको आत्मीयतापूर्ण आतिथ्य का भरोसा देते हैं और आश्वस्त करते हैं कि आपको किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी।

हम आपके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

— हार्दिक अभिवादन सहित,
मीनाक्षी (प्रबन्ध न्यासी)
आनन्द सिंह (सचिव)
कात्यायनी, सत्यम (सदस्य)
अरविन्द स्मृति न्यास

कार्यक्रम

22 जुलाई

प्रथम सत्र

(प्रातः 10 बजे से अपराह्न 1 बजे तक)

स्वागत-वक्तव्य। विषय प्रवर्तन। आधार-आलेख प्रस्तुति।

द्वितीय सत्र

(अपराह्न 3 बजे से रात्रि 8 बजे तक)

आधार-आलेख पर बातचीत। अन्य आलेखों की प्रस्तुति।

23 जुलाई

प्रथम सत्र

(प्रातः 10 बजे से अपराह्न 1 बजे तक)

आलेखों का पाठ और उन पर बहस जारी।

द्वितीय सत्र

(अपराह्न 3 बजे से रात्रि 8 बजे तक)

आलेखों का पाठ और उन पर बहस जारी।

24 जुलाई

प्रथम सत्र

(प्रातः 10 बजे से अपराह्न 1 बजे तक)

आलेखों का पाठ और उन पर बहस जारी।

द्वितीय सत्र

(अपराह्न 3 बजे से रात्रि 8 बजे तक)

बहस जारी। सम्पूर्ण संगोष्ठी में प्रस्तुत विचारों-दृष्टिकोणों का समाहार।

भोजनावकाश : अपराह्न 1 बजे से 3 बजे तक

द्वितीय सत्र में चाय का अन्तराल : शाम 6 बजे

अतिथियों के लिए नेहरू युवा केन्द्र में

नाश्ता : सुबह 8:30 से 9:30 तक अतिथियों के लिए नेहरू युवा केन्द्र में

रात का खाना : रात 9 बजे से

आयोजन स्थल

वाल्मीकि रंगशाला

उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी,
निकट भारतीय रिज़र्व बैंक परिसर,
विपिन खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ

अतिथि आवास

जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय युवा केन्द्र,
रूमी दरवाज़ा के निकट, चौक, लखनऊ

आप आयोजन समिति के निम्नलिखित किसी भी सदस्य से, या न्यास के लखनऊ कार्यालय से सम्पर्क कर सकते हैं :

मीनाक्षी — फ़ोन : 09212511042
ईमेल : meenakshy@arvindtrust.org

आनन्द सिंह — फ़ोन : 09689034229
ईमेल : anand.banaras@gmail.com

कात्यायनी — फ़ोन : 09936650658
ईमेल : katyayani.lko@gmail.com

सत्यम — फ़ोन : 09910462009
ईमेल : satyamvarma@gmail.com

लखनऊ कार्यालय का पता :
69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड,
निशातगंज, लखनऊ-226006

ईमेल : info@arvindtrust.org,
arvindtrust@gmail.com

वेबसाइट : arvindtrust.org

सामयिकी

फ़ार्बिसगंज पुलिस दमन : बर्बरों के "सुशासन" का असली चेहरा

• प्रशान्त

बिहार में नीतीश के "सुशासन" का ख़ूनी और बर्बर चेहरा एक बार फिर सामने आ गया। गत 3 जून को बिहार की "पीपुल्स फ़्रेण्डली" पुलिस ने अरारिया ज़िले के भजनपुर गाँव के निर्दोष निवासियों का बर्बरता की पराकाष्ठा तक दमन कर मानवता को शर्मसार कर दिया। इस घटना में पुलिसिया दमन का विभत्सतम चेहरा देखकर बरबस ही हिटलर जर्मनी के कन्सण्ट्रेशन कैम्पों और रोमन साम्राज्य में गुलामों के अमानवीय दमन के चित्र सामने उभर आये। इस घटना ने एक बार फिर यह साबित कर दिया कि तेज़ी से आर्थिक और सामाजिक "विकास" के पथ पर आरूढ़ बिहार में वास्तव में विकास किसका और किसकी क़ीमत पर हो रहा है? और नीतीश जी के विकास के सुन्दर मुखौटे के पीछे की वास्तविकता क्या है?

घटना बिहार के अरारिया ज़िले के फ़ार्बिसगंज मण्डल के भजनपुर गाँव की है। इस गाँव की लगभग सम्पूर्ण आबादी मुस्लिम है और मुख्य रूप से आसपास के शहरी मार्केट में और बड़े फ़ार्मरों के खेतों पर दिहाड़ी मज़दूर के रूप में खटती है। 1984 में बिहार औद्योगिक क्षेत्र विकास प्राधिकार (बियाडा) द्वारा 105 एकड़ ज़मीन अधिग्रहित की गयी थी जिसमें अधिकांश गाँव वालों की ज़मीन छिन गयी थी और बदले में उन्हें बहुत ही मामूली सा मुआवज़ा देकर मामले को रफ़ा-दफ़ा कर दिया गया था। तभी से इस गाँव के निवासियों को छोटे किसानों से भूमिहीन मज़दूरों के रूप में काम करने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस गाँव को नज़दीकी मार्केट, ईदगाह, अस्पताल और कर्बला से जोड़ने वाली केवल एकमात्र सड़क थी जो 1962 में बनायी गयी थी। इस प्रकार यह सड़क गाँव वालों की लाइफ़-लाइन थी। लेकिन पूँजीवादी विकास के घोड़े पर सवार नीतीश सरकार के आदेश के अन्तर्गत बियाडा ने पिछले साल जून में इस सड़क सहित रामपुर और भजनपुर गाँवों के बीच की सम्पूर्ण ज़मीन ऑरो सुन्दरम इण्टरनेशनल कम्पनी को मक्के से स्टार्च बनाने की फ़ैक्टरी स्थापित करने के लिए आवण्टित कर दी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस कम्पनी के डायरेक्टर्स में से एक भाजपा का एम.एल.सी. अशोक अग्रवाल का बेटा सौरभ अग्रवाल भी है। बियाडा के इस निर्णय के विरोध में गाँव वालों ने एस.डी.ओ. को अपना शिकायत पत्र सौंपकर सड़क बन्द न करने की अपील की थी, क्योंकि ऐसा होने पर दिहाड़ी पर खटने वाले इन मज़दूरों को रोज़ काम की तलाश में मार्केट तक पहुँचने के लिए 5-7 किलोमीटर की अतिरिक्त दूरी और तय करनी पड़ती। मामले को सुलझाने के लिए 1 जून 2011 को कम्पनी अधिकारियों, प्रशासन और मुखिया समेत गाँव वालों के बीच एक मीटिंग हुई थी जिसमें गाँव वालों ने इस शर्त पर सड़क पर अपना अधिकार छोड़ने की लिखित रूप से हामी भर दी थी कि फ़ैक्टरी के दक्षिण की ओर से एक सड़क निकाल दी जाये। लेकिन अगले ही दिन अर्थात् 2 जून को कम्पनी ने भारी पुलिस बल की मौजूदगी में ईंट और कॉन्क्रीट की दीवार बनाकर सड़क को ब्लॉक कर दिया और पास का एक छोटा पुल भी ध्वस्त कर दिया।

कम्पनी द्वारा सड़क को ब्लॉक करने की यह ख़बर गाँव में जंगल की आग की तरह फैल गयी। गाँववालों ने अपने आप को ठगा हुआ और असहाय महसूस किया और इस वजह से उनका गुस्सा बारूद के ढेर की तरह फूट पड़ा। भजनपुर और रामपुर गाँव के निवासियों ने सड़क को ब्लॉक किये जाने के विरोध में प्रदर्शन करना शुरू कर दिया और कम्पनी द्वारा बनायी गयी दीवार को ढहा दिया। हालाँकि पुलिस ने अपनी रिपोर्ट में यह भी कहा है कि गाँववालों ने पास खड़ी कम्पनी की जीप को भी आग लगा दिया, लेकिन अधिक उम्मीद इसी बात की है कि पुलिस ने ख़ुद जीप में आग लगाकर झूठा

आरोप गाँववालों पर मढ़ दिया जिससे कि उनके ऊपर एक्शन करने की "पृष्ठभूमि" तैयार की जा सके। गाँववालों के इस तथाकथित उग्र प्रदर्शन को रोकने के लिए मौक़े पर मौजूद एस. पी. गरीमा मलिक ने प्रदर्शनकारियों पर ओपेन फ़ायरिंग का आदेश दे दिया। आदेश मिलते ही पुलिस ने निर्दोष गाँववालों को सबक़ सिखाने के लिए अपनी हैवानियत और वहशीपन का जो रूप दिखाया उसके दृश्यों को देखकर रूह काँप उठती है। पुलिस ने गाँव वालों को उनके घरों तक खदेड़-खदेड़ कर मारा। 18 वर्षीय मो. मुस्तफा अंसारी को पुलिस ने चार गोलियाँ मारीं जिससे वह मृतप्राय अवस्था में ज़मीन पर गिर पड़ा।

लेकिन इतने से बर्बरों की हैवानियत शान्त कहाँ हुई? सुनिल कुमार नाम का पुलिस वाला ज़मीन पर पड़े मृतप्राय मुस्तफा के चेहरे पर कूद-कूदकर अपने पैरों से उसे कुचलने और अपने बूटों से उस पर पागलों की तरह प्रहार करने लगा जबकि वहाँ खड़े पुलिस कुनबे से लेकर प्रशासनिक अधिकारियों तक सब के सब तमाशबीन होकर यह सब देखते रहे। पुलिस फ़ायरिंग का शिकार दूसरा शख़्स मो. मुख्तार अंसारी था जिसे सिर में तीन और एक गोली जाँघ में लगी। पगलाई पुलिस ने गर्भवती माँ और सात माह के बच्चे तक को नहीं बख्शा। 6 माह की गर्भवती शाज़मीन खातून को 6 गोलियों (चार सिर में) से छलनी करने के बाद पुलिस के एक सिपाही ने ज़मीन पर पड़े उसके मृत शव के सिर पर राइफ़ल की बट से वार कर उसके सिर को फाड़ डाला और उसका दिमाग़ बाहर आ गया। 7 माह के नौसाद अंसारी की दो गोलियाँ लगने से मौत हो गयी। इसके अलावा फ़ायरिंग में आधा दर्जन से भी अधिक लोग घायल हुए। मरने वालों में सभी मुस्लिम थे।

घटना के बाद जाँच करने गये एक जाँच दल को गाँव वालों ने बताया कि 29 मई को राज्य के उप-मुख्यमन्त्री भाजपा के सुशील मोदी ने फ़ार्बिसगंज का दौरा कर वहाँ के प्रशासन पर जल्द से जल्द रोड को बन्द कर फ़ैक्टरी के निर्माण के लिए कार्य प्रारम्भ करने का रास्ता साफ़ करने के लिए दबाव डाला था। 3 जून की घटना के प्रत्यक्षदर्शियों के मुताबिक़ उस दिन ख़ुद अशोक अग्रवाल ने पुलिस वाले से पिस्टल लेकर गाँव वालों पर फ़ायरिंग की और कहा कि "इनको पिंजरे में बन्द कर देंगे, जेल बना देंगे सालों के गाँव को।" ये दबंगई और बेशर्मी की पराकाष्ठा ही है कि सारे साक्ष्य होने और घटना के अगले ही दिन इस बर्बर पुलिस दमन का वीडियो एक लोकल समाचार चैनल पर दिखाये जाने के बावजूद सुनिल कुमार के तबादले के अलावा अन्य किसी भी पुलिस अधिकारी, प्रशासनिक अधिकारी, कम्पनी अधिकारी या अशोक अग्रवाल किसी पर भी कोई कार्यवाही नहीं की गयी और न ही मृतकों या घायलों को (नौसाद अंसारी के पिता को छोड़कर) कोई मुआवज़ा ही दिया गया। इसके उल्टे नीतीश सरकार और प्रशासन द्वारा पुलिस के क्रूर दमन को न्यायसंगत साबित करने का काम किया जाता रहा। असल में फ़ार्बिसगंज की घटना बिहार में नीतीश शासन के दौरान आम ग़रीब किसानों व मज़दूरों के बर्बर पुलिस दमन की कोई अकेली घटना नहीं है। इससे पहले भी 11.84 फ़ीसदी की जी.डी.पी. दर से विकास करते बिहार में वहाँ के छोटे किसानों और मज़दूरों को इस विकास की क़ीमत पुलिस की गोली और लाठी खाकर चुकानी पड़ती रही है। पटना ज़िले के बिहटा, औरंगाबाद के नबीनगर और मुज़फ़्फ़रनगर के मड़वन इलाक़े में फ़ोर-लेन सड़क, थर्मल पावर प्लाण्ट और एस्बेस्टस फ़ैक्टरी का विरोध करने पर किसानों पर पुलिस का कहर बरपना कुछ उदाहरण भर हैं। औरंगाबाद में किसान मारे भी गये थे। इसके अलावा पिछले छह सालों के दौरान अन्य कई मौक़ों पर पुलिस बर्बर कार्यवाही कर चुकी है। जैसे कि कहलगाँव में साल 2008 के जनवरी महीने में नियमित बिजली की माँग कर रहे लोगों में से तीन शहरी पुलिस की गोलियों का शिकार हुए थे। साल 2007 में भागलपुर में चोरी के आरोपी औरंगजेब का "स्पीड ट्रायल' करते हुए एक पुलिस अधिकारी ने उसे अपनी मोटरसाइकिल के पीछे बाँधकर घसीटा था। कोसी इलाक़े में उचित मुआवज़ा और पुनर्वास की माँग करने वाले बाढ़ प्रभावित भी पुलिस की गोली का निशाना बने थे।

साफ़ है कि बिहार के "इनक्लूसिव विकास" की लम्बी-चौड़ी हाँकने वाले नीतीश कुमार असल में किसके विकास में लगा है और किस तरह राज्यसत्ता इस "इनक्लूसिव विकास" के रास्ते में आने वाली सारी "बाधाओं" को दूर करने के लिए बर्बरता की सारी सीमाएँ लाँघने को तैयार है।

वास्तव में नीतीश का "सुशासन" फ़ासीवादियों के शासन का एक आदर्श उदाहरण है जहाँ ग़रीब किसानों और मज़दूरों और अल्पसंख्यकों के जीवन का इसके अलावा और कोई मायने नहीं होते हैं कि वे चुपचाप बड़े किसानों और पूँजीपतियों के निजी मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए हाड़-तोड़ मेहनत करें और चुपचाप मर जायें, क्योंकि विरोध में अगर कहीं कोई आवाज़ उठी तो वही हश्र होगा जो फ़ार्बिसगंज में हुआ। साथ ही देश की मेनस्ट्रीम मीडिया द्वारा नीतीश के फ़ासीवादी शासन की लगातार बड़ाई और नीतीश को विकास के एक नये नायक के रूप में प्रोजेक्ट किया जाना अभूतपूर्व संरचनागत क्राइसिस के भँवर में फँसी वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था की एक निरंकुश फ़ासीवादी राजतन्त्र की आवश्यकता के प्रति बढ़ते झुकाव को ही रेखांकित करता है।

ऐसे में सबसे अधिक पीड़ादायी तो देश के पढ़े-लिखे युवाओं का फ़ार्बिसगंज जैसी घटनाओं के प्रति अपनी आँख, कान और दिमाग़ को बन्द कर अपना कैरियर बनाने में लगे रहना है; सबसे अधिक घृणास्पद उस खाये-पिये अघाये मध्य वर्ग की नपुंसकता और देश के मेहनतकशों और ग़रीब जनता के दु:खों, तकलीफ़ों और बेहिसाब शोषण के प्रति उनकी उदासीनता है, जो अपनी नपुंसकता पर इठलाने से बाज़ भी नहीं आता है। सवाल तो भ्रष्टाचार विरोध का भोंपू बजाने वाले अण्णा से भी और प्रबुद्ध "सिविल" सोसाइटी के सदस्यों से भी है कि क्या वे इस बर्बर व निरंकुश शोषण व दमन के विरोध में भी कभी आवाज़ उठायेंगे? ज़ाहिरा तौर पर नहीं। ऐसे फ़ासीवादी राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ देश के संवेदनशील व साहसी छात्रों-युवाओं को सामने आना ही होगा और सतह के नीचे जमा हो रहे देश की 80 करोड़ मेहनतकश आबादी के गुस्से के बारूद को एक समानतामूलक समाज के निर्माण की दिशा में चैनलाइज़ करने के काम को अपने हाथ में लेना ही होगा। वरना आने वाली पीढ़ियाँ हमें कभी माफ़ नहीं करेंगी।

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश

• जनचेतना, जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8.30 तक) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू वाराणसी • Ramashankar Rajbhar WR-3/17 Type-3, **II**nd Floor, Irrigation colony, Govindpur Allhabad • विशाल विक्रम सिंह रूम नं-310 बिड़ला हॉस्टल-बी बीएचयू वाराणसी, • कुंवर सन्दीप कुमार सिंह-कुसुमविला, कॉलेज रोड़, मन्दिर लेन, उन्नाव • जनचेतना, शास्त्री नगर, एम ब्लॉक, सामने तिकोना पार्क, मेन बागवाली कॉलोनी रोड, गाजियाबाद

दिल्ली

• अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस, • यू. स्पेशल : दि यूनिवर्सिटी बुकशॉप, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय।

बिहार

• श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो. करनौल, जिला मुज़फ़्फ़रपुर

• डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, "शब्दसदन', सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच.-3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, जिला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग, पटना, • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर(बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, भाया-ईस्लामपुर, नालन्दा

राजस्थान

• चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर • शैलेन्द्र चौहान द्वारा 34/242, से.-3, प्रताप नगर, जयपुर • ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ़ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर।

हरियाणा

• डॉ. सुखदेव हुन्दल, ग्राम+पोस्ट सन्तनगर वाया जीवन नगर, सिरसा। • रमेश खटकड़, अमृता मेडिकोज, ओल्ड बस स्टैण्ड रोड, चोपड़ा पट्टी, नियर धोलाकुंआ, नरवाना, जिला-जीन्द

महाराष्ट्र

• वी. पी. सिंह, बी-5, संकष्टि कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, हाजी मलंग रोड, चक्की नाका, कल्याण • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • श्याम सोनार (प्रोग्रेसिव स्टूडेण्ट्स फ़ोरम) 3/3, शुभकामना सोसायटी, लक्ष्मीपार्क, फ़ेज़-2 के बाजू में पाड़ा नं-2, यशोधन नगर, ठाणे (पश्चिम) महाराष्ट्र • गोपाल नायडू कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्ठी, अजनी रोड, नागपुर। • शिरीष मेढ़ी, डी-402, रवि इस्टेट ऑफ़ पोखरन रोड नं-1 ठाणे, • हर्ष ठाकोर, हरबंश, 4th फ़्लोर, नूतन लक्ष्मी सोसायटी, 8th रोड, जूहू विले पारले डेब्लपमेण्ट स्कीम, मुम्बई, • आनन्द सिंह, एम-12/1788, दूसरी मंज़िल, एम.एच.बी. येरवाडा, पूणे.

पंजाब

• लखविन्दर, शहीद भगतसिंह पुस्तकालय 33, फुटा रोड, गली नं-5, लक्ष्मणनगर, गियासपुरा लुधियाना • पंजाब बुक सेण्टर SLO-1126-27, सेक्टर-22 बी, चण्डीगढ़।

मध्यप्रदेश

• संजय बुक स्टॉल, शाप नं. 43, ग्वालियर।

हिमाचल प्रदेश

• सुरेश सेन "निशान्त', गाँव सलाह, डाक. सुन्दरनगर-1, जिला-मण्डी।

उत्तराखण्ड

• संजय वर्मा, वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, पो.-सोमेश्वर, जिला-अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, ज़िला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नियर उत्तर उजाला ऑफ़िस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • अल्मोड़ा किताबघर द्वारा श्री शमशेर सिंह बिष्ट नियर यूनिवर्सिटी कैम्पस, मालरोड, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़। • शम्भूदत्त पाण्डेय, D2-1/14, मेट्रोपोलिस सिटी, रुद्रपुर, उधमसिंह नगर

जम्मू • श्री पुरुषोत्तम लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, • राहुल 139, नेहरू हास्टल, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

छत्तीसगढ़ • श्री देवाशुं पाल, सं-"पाठ" गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, विलासपुर, छत्तीसगढ़।

युवा चिन्तन

टेरी ईगलटन की त्रासद आध्यात्मिकता की आध्यात्मिक त्रासदी

• शिशिर

साहित्य और साहित्य आलोचना में रुचि रखने वाले किसी भी पाठक को टेरी ईगलटन के बारे कुछ बताने की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन जो पाठक टेरी ईगलटन के नाम से परिचित नहीं हैं, उन्हें हम संक्षेप में उनका परिचय देना चाहेंगे। टेरी ईगलटन आज दुनिया के शीर्ष मार्क्सवादी साहित्य आलोचकों में से एक हैं। हम कह सकते हैं कि 1970 के दशक से लेकर अब तक के समय में मुख्य रूप से तीन मार्क्सवादी आलोचकों ने मार्क्सवादी आलोचना के मानकों को निर्धारित करने का काम किया है : एजाज़ अहमद, फ़्रेडरिक जेम्सन और टेरी ईगलटन। इसमें से ईगलटन ने न सिर्फ़ मार्क्सवादी आलोचना के नये मानक गढ़ने का रचनात्मक कार्य किया बल्कि मार्क्सवादी आलोचना के एक बेजोड़ शिक्षक का भी काम किया। विशेष रूप से *लिटररी थियरी : एन इण्ट्रोडक्शन* और *मार्क्सिज़्म एण्ड लिटररी थियरी* नामक उनकी रचनाएँ साहित्य के विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं व शिक्षकों के बीच विशेष रूप से लोकप्रिय हैं। टेरी ईगलटन न सिर्फ़ साहित्य आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवादी हैं, बल्कि वे ब्रिटेन की त्रात्स्कीपन्थी पार्टी सोशलिस्ट वर्कर्स पार्टी के और फिर उसके बाद वर्कर्स सोशलिस्ट लीग के सक्रिय सदस्य भी रहे हैं। 1970 के बाद के चार दशकों में मार्क्सवादी आलोचना पर उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह शानदार है। उनकी शैली सहज और सरल है और उनका पूरा लेखन बेहद सम्प्रेषणीय रहा है। लेकिन 2009 में नव-नास्तिकतावादियों के समूह के साथ ईश्वर के प्रश्न पर चली बहस में टेरी ईगलटन के हस्तक्षेप ने एक मार्क्सवादी के रूप में उनकी पहचान पर कई प्रश्नचिह्न खड़े कर दिये हैं।

इस बहस में टेरी ईगलटन ने ईश्वर के अस्तित्व और विशेष रूप से कैथोलिक ईसाई ईश्वर के अस्तित्व के बचाव के लिए जो तर्क दिये हैं, उसे देखकर लगता ही नहीं है कि यह वही टेरी ईगलटन हैं जिनकी रचनाओं की धार विश्व-प्रसिद्ध रही है; शक होने लगता है कि आप किसी और टेरी ईगलटन को पढ़ रहे हैं। वास्तव में, मुझे यही लगा था और फिर मैंने एक बार इस बात की पड़ताल की कि यह वही टेरी ईगलटन हैं। और यह पुष्ट होने पर काफ़ी अफ़सोस हुआ।

2008-09 में नव-नास्तिकतावादियों के समूह ने कई पुस्तकें लिखीं जिन्होंने वैज्ञानिक तर्कों और प्रमाणों के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को ख़ारिज किया। इन लेखकों में से एक को छोड़कर बाक़ी सभी स्वयं वैज्ञानिक हैं। इन लेखकों की पुस्तकें जल्दी ही अमेरिका और ब्रिटेन दोनों ही देशों में सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकें बन गयीं। विशेष रूप से रिचर्ड डॉकिंस की पुस्तक 'दि गॉड डेल्यूज़न' काफ़ी प्रसिद्ध हुई। यह पुस्तक भारत में भी काफ़ी लोकप्रिय हुई है और सम्भवत: कुछ पाठकों ने इसके बारे में सुना हो। इस समूह के अन्य सदस्य हैं सैम हैरिस, डेनियल डेनेट और क्रिस्टोफ़र हिचिंस। इनमें से पहले दो अमेरिकी हैं जबकि डॉकिंस और हिचिंस ब्रिटिश हैं। इनकी पुस्तकें आने और उनके बेहद लोकप्रिय हो जाने के ठीक बाद टेरी ईगलटन ने इनकी पुस्तकों की एक समीक्षा लिखी जो 'लन्दन रिव्यू ऑफ़ बुक्स' में प्रकाशित हुई। इस समीक्षा के साथ ही प्रसिद्ध 'ईश्वर बहस' (दि गॉड डिबेट) की शुरुआत हुई। इस बहस के बाद टेरी ईगलटन ने एक अलग पुस्तक ही लिख दी जिसमें उन्होंने ईसाइयत और कैथोलिकवाद का बचाव किया या शायद बचाव करने की एक दयनीय कोशिश की। इस पुस्तक का नाम है 'रीज़न, फ़ेथ एण्ड रिवोल्यूशन'।

बहुत से पाठकों को आश्चर्य होगा (जो कि जायज़ है) कि कोई मार्क्सवादी ईश्वर का बचाव क्यों कर रहा है? स्वाभाविक बात तो यह होती कि अगर किसी ग़ैर-मार्क्सवादी नास्तिक ने ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करते हुए कोई पुस्तक लिखी है तो एक मार्क्सवादी उसका समर्थन करता और यहीं से बात को आगे बढ़ाता और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक ले जाता, जैसा कि मार्क्स ने अपने समय में किया था। फ़ायरबाख़ पर अपनी प्रसिद्ध ग्यारह थीसीज़ में मार्क्स ने जब लिखा था कि दार्शनिकों ने दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है, जबकि सवाल इसको बदलने का है, तो वह किसी हेगेलवादी भाववादी की आलोचना नहीं कर रहे थे, बल्कि फ़ायरबाख़ के

गैर-द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना कर रहे थे। इस भौतिकवाद को मार्क्स चिन्तनशील भौतिकवाद (कण्टेम्प्लेटिव मटीरियलिज़्म) की संज्ञा देते हैं जो ईश्वर के खण्डन तक ही सीमित रह जाता है। मार्क्स तर्क देते हैं कि निश्चित रूप से पदार्थ जगत के प्राथमिक होने को सिद्ध कर, और पदार्थ से अलग किसी भी प्रकार की चेतना के अस्तित्व को ख़ारिज कर फ़ायरबाख़ ने दर्शन में एक क्रान्तिकारी योगदान किया। लेकिन वह यह नहीं समझ पाये कि पदार्थ जगत से निर्मित होने के बाद चेतना पलटकर क्रान्तिकारी व्यवहार (रिवोल्यूशनरी प्रैक्सिस) के ज़रिये पदार्थ जगत को बदल भी सकती है। यानी, जब क्रान्तिकारी चेतना मनुष्यों के किसी समूह में जड़ें जमा लेती है तो वह भी एक भौतिक शक्ति बन जाती है जो पदार्थ जगत की संरचना को बदल सकती है। यही क्रान्ति के विज्ञान का बुनियादी सबक़ था और यही था चिन्तनशील भौतिकवाद से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में संक्रमण। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि फ़ायरबाख़ का कोई योगदान नहीं था। वास्तव में, फ़ायरबाख़ के योगदान के बिना मार्क्सवाद के विकास की ऐतिहासिक विशिष्टताएँ भी काफ़ी भिन्न रही होतीं। मार्क्स ने फ़ायरबाख़ के बिखरे भौतिकवाद को व्यवस्थित रूप दिया और द्वन्द्ववाद के साथ उसका संश्लेषण कर उसे एक शक्तिशाली विज्ञान में तब्दील किया। एक सच्चे मार्क्सवादी का गैर-द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से यही रिश्ता हो सकता है। लेकिन टेरी ईगलटन यहाँ कुछ और ही कर रहे हैं। आइये देखें कि वह क्या कर रहे हैं।

टेरी ईगलटन द्वारा नव-नास्तिकतावादियों की रचनाओं की आलोचना बेहद कमज़ोर, भोंड़ी, बुनियादी सवालों से बचते हुए आरोप-प्रत्यारोप करने वाली, अस्पष्ट और अहंकारी आलोचना है। बल्कि इसे आलोचना कहना भी उचित नहीं होगा। टेरी ईगलटन ने ईश्वर का एक दयनीय बचाव पेश किया है। इसके लिए उन्होंने अपनी सारी पाण्डित्यपूर्ण शैली, चुटीलापन, व्यंग्य करने की क्षमता और शब्दों की बाज़ीगरी को झोंक डाला है। लेकिन उनकी पुस्तक पढ़ने के बाद लगता है कि बेकार में ही इस उम्र में ईगलटन ने अपनी इतनी ऊर्जा ख़र्च कर दी! क्योंकि पाठक इसे पढ़कर बस आश्चर्य में कन्धे उचका सकता है। अपनी आलोचना की शुरुआत ईगलटन यहाँ से करते हैं : "कल्पना कीजिये कोई जीव विज्ञान पर लम्बी-चौड़ी बातें कर रहा है और इस विषय पर उसकी जानकारी सिर्फ़ 'दि बुक ऑफ़ ब्रिटिश बर्ड्स' तक सीमित है, और आपको एक मोटा अन्दाज़ा चल जायेगा कि धर्मशास्त्र पर रिचर्ड डॉकिंस को पढ़ना कैसा लगता है।" यह शुरुआती टिप्पणी ही ईगलटन के आगे की आलोचना के स्वर को निर्धारित कर देती है। ईगलटन का तुरूप का पत्ता इस बहस में यह है कि डॉकिंस व हिचिंस को धर्मशास्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं है; उन्होंने ईसाई धर्म के महान सन्तों का अध्ययन नहीं किया है; उन्होंने बाइबिल भी ठीक से नहीं पढ़ी है; ऐसे में वह क्या जानें कि ईश्वर और धर्म क्या हैं? यह बेहद कमज़ोर तर्क है। पहली बात तो यह है डॉकिंस की पुस्तक धर्मशास्त्र पर नहीं है। यह ईश्वर के अस्तित्व को वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर ख़ारिज करती है। इसका धर्मशास्त्रीय बहसों और ईसाई सन्तों की वाणी से कोई मतलब नहीं है। लेकिन ईगलटन अपनी समीक्षा और फिर अपनी पुस्तक में यही तर्क दोहराते रहते हैं। वे डॉकिंस, या फिर इस समूह के किसी भी सदस्य की रचनाओं में पेश एक भी तर्क को उत्तर नहीं देते हैं और लगातार अपना धर्मशास्त्र वाला कार्ड खेलने की कोशिश करते रहते हैं।

टेरी ईगलटन को ईसाई धर्मग्रन्थों का अच्छा ज्ञान है। इसका कारण यह है कि वह बचपन में एक कारमेल कॉन्वेण्ट में वेदी बालक (ऑल्टर बॉय) थे। उनका काम था ईसाई धर्मभिक्षुणियों को दरवाज़े से उस स्थान तक ले जाना जहाँ वे धर्मसेवा की सौगन्ध लेती हैं। उनकी हाल ही में प्रकाशित आत्मकथा का नाम भी उनके इसी शुरुआती पेशे से लिया गया है : 'दि गेटकीपर'। ईगलटन एक ग़रीब परिवार में पैदा हुए थे। उनके कुछ भाई-बहन ग़रीबी और भूख के कारण मर भी गये थे। लेकिन कैथोलिक चर्च की सहायता से वह स्वयं जीवित रहे और अध्ययन करते हुए कैम्ब्रिज के प्रतिष्ठित ट्रिनिटी कॉलेज में दाख़िला लेने में कामयाब रहे। निश्चित रूप से ईगलटन असाधारण रूप से मेधावी थे और उनकी मेहनत की भी इसमें बहुत बड़ी भूमिका थी। लेकिन चर्च की सहायता के बिना वे शायद ही वहाँ तक पहुँच पाते। कैम्ब्रिज पहुँचने के बाद छात्र जीवन में वे मार्क्सवाद के सम्पर्क में आये। मार्क्सवाद से उनका परिचय कराने वाला और कोई नहीं बल्कि प्रसिद्ध मार्क्सवादी सांस्कृतिक विश्लेषक रेमण्ड विलियम्स थे। रेमण्ड विलियम्स एक वामपन्थी कैथोलिक समूह *स्लैण्ट* से परिचित थे। इस समूह की पत्रिका *स्लैण्ट* के पहले अंक की प्रस्तावना विलियम्स ने लिखी। यह समूह कैथोलिक आस्था और मार्क्सवाद में तालमेल करने की कोशिश करता था। टेरी ईगलटन भी इसी समूह से जुड़ गये, क्योंकि स्वयं उन पर भी कैथोलिक परवरिश का गहरा असर था। एक जगह ईगलटन ने कहा है कि "कैथोलिकवाद ने मुझे और कुछ नहीं तो हर प्रश्न पर गहराई और शक्ति के साथ सोचना सिखलाया।" यह एक मार्क्सवादी के लिए अजीब बयान है। पहली बात तो यह कि गहराई और शक्ति के साथ सोचने का गुर सीखने के लिए कैथोलिक होना ज़रूरी नहीं है। और दूसरी बात यह कि ईगलटन के इस दावे को सतही तौर पर नहीं लिया जा सकता; यानी कि वाक़ई कैथोलिकवाद ने ही उन्हें इस तरह से सोचना सिखलाया, यह महज़ एक दावा भी हो सकता है, जो ईगलटन चर्च के क़र्ज़ से मुक्त होने के लिए कर रहे हों! कैथोलिक परवरिश और फिर चर्च की सहायता से जीवन में आगे बढ़ने के कारण ईगलटन का ईसाइयत और विशेष रूप से प्राचीन ईसाइयत से विशेष

लगाव है। यह आगे इस लेख में स्पष्ट हो जायेगा। लेकिन इस बात का कोई आनुभविक प्रमाण नहीं है कि कैथोलिकवाद लोगों को गहराई और शक्ति से सोचना सिखाता है। उल्टे, आनुभविक प्रमाण तो इस बात का है कि कैथोलिकवाद लोगों को कूपमण्डूक और उल्लू बनाता है! इसलिए बड़े पैमाने पर ईगलटन के दावे के प्रमाणों की अनुपस्थिति में यह माना जा सकता है, कि इस बयान के कुछ अन्य प्रच्छन्न भावनात्मक कारण हो सकते हैं। *स्लैण्ट* समूह के अन्तिम दौर में ईगलटन एक कैथोलिक पादरी के भी सम्पर्क में लम्बे समय तक रहे और उनके शिष्य बने रहे। इसी समय ईगलटन मार्क्सवाद से भी परिचित हो रहे थे। उस पादरी की मृत्यु से पहले ईगलटन वामपन्थी राजनीति में भी सक्रिय हो चुके थे। इस दौरान ही उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'टुवर्ड्स ए न्यू लेफ्ट चर्च' भी लिखी जिसमें कैथोलिक वामपन्थ की बुनियादी प्रस्थापनाओं को उन्होंने प्रस्तुत किया। उस पादरी की मृत्यु के बाद ईगलटन धर्म से विमुख हो गये और फिर उनकी रचनाओं में ईसाइयत या कैथोलिकवाद की थीम लम्बे समय तक नहीं आयी। 1976 से लेकर 2000 के पहले दशक के उत्तरार्द्ध तक ईगलटन ने मार्क्सवादी आलोचना सिद्धान्त को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योगदान किया।

लेकिन उनके भीतर कैथोलिकवाद और ईसाइयत के प्रति रुझान कभी पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया था। कम-से-कम भावनात्मक और आत्मिक धरातल पर वह हमेशा इससे जुड़े रहे थे। और सम्भवत: जीवन के तृतीय चतुर्थांश की ओर बढ़ते हुए, मार्क्सवादी विज्ञान और दर्शन को आत्मसात न कर पाने के पाप का फल अब टेरी ईगलटन अपनी चार दशकों में कमायी गयी प्रतिष्ठा की स्वयं अपने हाथों से मिट्टी पलीद करके चुका रहे हैं! अब जबकि हम टेरी ईगलटन के ईश्वर-रक्षा अभियान के ऐतिहासिक कारणों को अत्यन्त संक्षेप में समझ चुके हैं, तो हम ईश्वर सम्बन्धी बहस की ओर वापस लौट सकते हैं।

ईगलटन का मानना है कि चूँकि डॉकिंस धर्मशास्त्र में पारंगत नहीं हैं इसलिए वह ईश्वर के अस्तित्व के बारे में कुछ नहीं बोल सकते हैं। यह एक विचित्र तर्क है। एक फन्तासी के खण्डन के लिए उस फन्तासी द्वारा रची गयी तमाम उप-फन्तासियों को पढ़ने की क्या आवश्यकता हो सकती है? किसी फन्तासी के बारे में यह सिद्ध करने के लिए कि वह फन्तासी ही है, आपको उसे यथार्थ, इतिहास और विज्ञान के प्रमाणों के सामने खड़ा करना होता है। फन्तासी खुद ही बोल पड़ती है कि मैं फन्तासी हूँ। डॉकिंस ने यही किया। और इसके लिए ही ईगलटन डॉकिंस से बेहद नाराज़ हैं। क्योंकि उनके बचपन का प्रिय कैथोलिकवादी ईसाई धर्म भी विज्ञान की झाड़ू की चपेट में आ गया! अब कोई तर्क तो है नहीं! इसलिए धर्मशास्त्र का कार्ड खेलने के अलावा बेचारे ईगलटन के पास कोई चारा भी नहीं था! ज़रा कुछ तर्कों पर ग़ौर कीजिये। टेरी ईगलटन कहते हैं कि आपको धर्म और धर्मशास्त्र को तार्किक मेधा के अन्तर्ज्ञानी (इण्ट्यूटिव) और आत्मगत (सब्जेक्टिव) धरातलों के ज़रिये समझना पड़ता है। यानी कि ईश्वर को तथाकथित प्रत्यक्ष तर्क और विज्ञान से नहीं समझा जा सकता है; उसे अपने अन्तर्ज्ञान से अनुभव करना पड़ता है, जो कि आत्मगत होता है। इसमें तार्किक मेधा शब्द ईगलटन ने बेवजह घुसेड़ दिया है। इस शब्द को हटा दें तो उनका वाक्य कोई अर्थ पैदा करता है। अन्यथा, यह एक अर्थहीन वाक्य है। इसलिए अगर इस 'तार्किक मेधा' के काँटे को हटा दें तो ईश्वर से आपका अपने अन्तर्ज्ञान और आत्मगत बोध से मिलन हो सकता है!! ईगलटन दावा करते हैं कि डॉकिंस व अन्य नास्तिक वैज्ञानिकों के तर्क प्रत्यक्षवादी हैं और प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज़्म) को 20वीं सदी नाले में बहा चुकी है। प्रत्यक्षवाद मर चुका है, जबकि ईसाई धर्म थॉमस एकीनास से लेकर कीर्केगार्द तक विकसित हो रहा है, फल-फूल रहा है! इसमें नये-नये सिद्धान्तों का इज़ाफ़ा हो रहा है! यह एक ऐसा मूर्खतापूर्ण तर्क है जिसका जवाब देने की न तो इनमें से किसी नास्तिक वैज्ञानिक ने आवश्यकता समझी और न ही हम ऐसी कोई आवश्यकता समझते हैं!

ईगलटन नव-नास्तिकतावादियों के तर्कों का जवाब देने में दयनीय रूप से असफल रहते हैं। इसीलिए वह अपनी पुस्तक 'रीज़न, फ़ेथ एण्ड रिवोल्यूशन' में एक नये चरित्र की रचना करते हैं : डिचिंस (डॉकिंस+हिचिंस)! और फिर वह इस नये प्राणी डिचिंस पर टूट पड़ते हैं। ईगलटन पहले बिना किसी प्रमाण के इस बेचारे डिचिंस पर अभियोग पर अभियोग लगाते जाते हैं और फिर अधार्मिक होने के लिए उसे जमकर कोड़े लगाते हैं! यह एक काफ़ी अच्छी योजना थी। चूँकि डिचिंस एक काल्पनिक प्राणी है, इसलिए न तो वह अपनी सफ़ाई में कुछ कह सकता है और न ही पलटकर ईगलटन को कोड़े लगा सकता है! इसलिए बिना किसी जवाबी हमले के डर के डिचिंस के बहाने ईगलटन नास्तिकता पर हमला बोल सकते हैं! योजना अच्छी थी, लेकिन किसी वीडियो-गेम के लिए! आप अपने विरोधी की रचना स्वयं करते हैं और फिर उसे धुन डालते हैं! सबकुछ ठीक है; बस दिक़्क़त यह है कि यह सब काल्पनिक है!

ईगलटन कुछ नये सिद्धान्त भी प्रतिपादित करते हैं। वह कहते हैं कि आज की दुनिया में प्रबोधनकाल में प्रस्तुत उपकरणात्मक तर्क (Instrumental Reason) साम्राज्यवाद का पक्षधर बन चुका है। नास्तिकता का आज पूँजीवाद के साथ गहरा सम्बन्ध है। पूँजीवाद के मानवद्रोही होने का एक स्रोत नास्तिकता में भी है। ईगलटन आगे दलील देते हैं कि आज की दुनिया में मानवीय मूल्यों की दो प्रमुख शरणस्थलियाँ हैं, साहित्य और धर्म। विज्ञान और तर्क के प्रति ईगलटन के पास सिर्फ़ अवहेलना और अपमान

है। एक मार्क्सवादी द्वारा ऐसे बर्ताव को त्रासदी की श्रेणी में रखा जाये, या कामदी की श्रेणी में, इसके लिए तो ईगलटन जैसे किसी धुरन्धर साहित्य आलोचक की शरण में ही जाना पड़ेगा! प्रत्यक्षत:, ईगलटन ने सभी सच्चाइयों को सिर के बल खड़ा कर दिया है। वास्तव में, उपकरणात्मक तर्क की आलोचना का काम ईगलटन को उत्तर-आधुनिकतावादियों पर छोड़ देना चाहिए (जिनसे कि वह खुद भी बेइन्तहाँ नफ़रत करते हैं और एक जगह उन्होंने उत्तरआधुनिकतावाद को एक बीमार मज़ाक़ की संज्ञा भी दी है)। लेकिन यहाँ तो ईगलटन खुद एक बीमार मज़ाक़ करते नज़र आ रहे हैं। पूँजीवाद और नास्तिकता का अपवित्र गठबन्धन? विज्ञान और तर्क का साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़? यह तो हद है! ईगलटन कहते हैं कि 'आई बिलीव टू अण्डरस्टैण्ड!' (मैं आस्थावान हूँ ताकि मैं समझ सकूँ!) लेकिन मार्क्सवाद तो बताता है कि जब आदमी समझ नहीं पाता तब वह आस्थावान हो जाता है! ईगलटन कहते हैं कि आस्था का होना मानवीय होने के लिए ज़रूरी है। लेकिन क्या इतिहास गवाह नहीं है कि आस्था ही मानव इतिहास में सबसे अमानवीय कृत्यों का कारण बनी है? क्या हम गुजरात को भूल सकते हैं? या हम होलोकॉस्ट को भूल सकते हैं? क्या हम आज के इस्लामोफ़ोबिया को नज़रअन्दाज़ कर सकते हैं? मज़ेदार बात तो यह है कि ईगलटन आज के इस्लामोफ़ोबिया के लिए भी नास्तिकों को दोषी ठहराते हैं! इसका कोई विश्लेषण पेश करना वह ज़रूरी नहीं समझते। इसका बस एक आधार है। चूँकि आज विज्ञान का इस्तेमाल पूँजीवाद-साम्राज्यवाद अपने हितों की पूर्ति के लिए कर रहे हैं, इसलिए गड़बड़ी विज्ञान और तार्किकता में ही है! यह भी एक ऐसा मूर्खतापूर्ण तर्क है जिसका जवाब अब देने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूँजीवाद न सिर्फ़ विज्ञान और उसकी खोजों का मुनाफ़े के लिए आदमखोर तरीक़े से इस्तेमाल कर रहा है, बल्कि आध्यात्मिकता और धर्म का भी वह ऐसा ही इस्तेमाल कर रहा है। इसमें आध्यात्मिकता और धर्म का इस्तेमाल ज़्यादा घातक है क्योंकि इसका इस्तेमाल जनता के नियन्त्रण और उसकी चेतना को कुन्द और दास बनाने के लिए किया जाता है। विज्ञान और तर्क में तो पूँजीवाद-विरोधी एक प्रवृत्ति अन्तर्निहित होती है, क्योंकि पूँजीवाद स्वयं एक बेहद अतार्किक और अवैज्ञानिक व्यवस्था है। इसलिए पूँजीवाद व्यावहारिक विज्ञान की सभी नेमतों का इस्तेमाल तो करना चाहता है, लेकिन विज्ञान और तर्क की रोशनी को जनता के व्यापक तबक़ों तक पहुँचने से रोकने या उसे विकृत रूप में जनता के आम जनसमुदायों में पहुँचाने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है।

ईगलटन चारों नव-नास्तिकतावादियों में से सिर्फ़ दो को चुनते हैं, जो कि ब्रिटिश हैं और कैम्ब्रिज में उनके साथ थे। बाक़ी दो अमेरिकी नव-नास्तिकतावादियों के बारे में ईगलटन कुछ ख़ास नहीं कहते। मानो कि यह ब्रिटिश विद्वानों का आपसी मामला हो। उसमें भी ईगलटन डॉकिंस के प्रति विशेष रूप से हमलावर रुख़ अख़्तियार करते हैं, क्योंकि डॉकिंस एक वैज्ञानिक हैं और एक वैज्ञानिक के रूप में ही वह धर्म की सत्ता पर हमला करते हैं, जो कि निश्चित रूप से धर्म और ईश्वर की सेहत के लिए विशेष रूप से हानिकारक है। इसीलिए वह ईगलटन का मुख्य निशाना बने हैं। दूसरी ओर, हिचिंस इस पूरे ग्रुप के एकमात्र ऐसे सदस्य हैं जो साहित्य के अध्यापक हैं। इसलिए हिचिंस के प्रति ईगलटन ने कुछ उदार शब्द भी कहें हैं और उन्हें अपने हास्यास्पद हमले का प्रमुख निशाना नहीं बनाया है। वह कहीं-कहीं हिचिंस को पाला बदल लेने की अपील करते नज़र आते हैं, ख़ास तौर पर जहाँ वह हिचिंस और डॉकिंस की शैलियों के फ़र्क़ को बताते हुए जताते हैं कि क्यों विज्ञान शैतानी शक्ति है और क्यों साहित्य इंसानी शक्ति है! लेकिन ईगलटन इस पूरे प्रयास में और हास्यास्पद बन गये हैं। एक बात यहाँ बता देना मौजूँ होगा। जब ईगलटन इराक़ युद्ध के ख़िलाफ़ प्रचार और प्रदर्शन कर रहे थे, तो उस समय मानवीयता के गुणों से लैस होने की सम्भावना रखने वाले, और साहित्य अध्येता क्रिस्टोफ़र हिचिंस उनके साथ नहीं आये और उन्होंने बुश-ब्लेयर का नियो-कंज़रवेटिव खेमा चुन लिया था। जबकि, शैतानी वैज्ञानिक रिचर्ड डॉकिंस ने इराक़ युद्ध विरोध में बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी की थी। ईगलटन के अन्तरविरोध इस बहस में ख़त्म होने का नाम ही नहीं लेते हैं।

डॉकिंस व अन्य से "निपटने" और फ़ारिग होने के बाद टेरी ईगलटन उस काम में लगते हैं, जो उन्हें शायद सबसे ज़्यादा पसन्द है और अगर वह साहित्य आलोचक न बनते तो शायद वही काम करते: धर्मोपदेश और धर्म-व्याख्या! टेरी ईगलटन का प्राचीन कैथोलिक ईसाइयत के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा है। और इस क़दर कि उन्होंने येशू को कम्युनिस्ट बनाने की कोशिश तक कर डाली है! ईसा एक मूर्तिभंजक, क्रान्तिकारी, अराजकतावादी और सर्वहारा है! ईगलटन दावा करते हैं कि ईसा आज के तमाम अतिवामपन्थियों से ज़्यादा वामपन्थी थे। यहाँ तक कि ईसा के पुनर्जन्म के बारे में भी ऐसे बात की गयी है, मानो वह वाक़ई हुआ हो! इस पर भी ज़्यादा कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं कि स्थिति क्या है!

टेरी ईगलटन ईसा, ईसाई धर्म और उसकी संस्थाओं का एक अनैतिहासिक विवरण देते हैं। इस विवरण का वास्तविकता, तथ्यों और प्रमाणों से कोई लेना-देना नहीं है। ईसा के जीवन के बारे में आज कोई विशेष ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद नहीं हैं। कहना तो यह चाहिए कि ऐसे किसी चरित्र की ऐतिहासिकता ही अभी कठघरे में है। हाँ, हम ईसाई समुदाय के प्रारम्भिक इतिहास के बारे में

कुछ जानते हैं। और जो हम जानते हैं उससे उस समुदाय या उसके धर्म में कुछ भी अराजकतावादी, मूर्तिभंजक, विद्रोही नज़र नहीं आता। यह प्रारम्भिक ईसाई समुदाय काफ़ी-कुछ वैसा है जैसा कि मैक्स वेबर ने अपनी प्रसिद्ध रचना *प्रोटेस्टेण्ट एथिक्स एण्ड दि राइज़ ऑफ़ कैपिटलिज़्म* में बताया है। निश्चित रूप से, वेबर की यह थीसिस बिल्कुल ग़लत है कि प्रोटेस्टेण्ट आचार और संस्कृति ने पूँजीवाद को जन्म दिया। वास्तव में मामला उल्टा था। पूँजीवाद के उदय ने एक ऐसे समुदाय को जन्म दिया जो वैसा था जैसा कि वह था। लेकिन अभी मसला यह नहीं है। प्रारम्भिक ईसाई समुदाय उद्यमियों, कुशल कारीगरों और दुकानदारों का एक समुदाय था जो रोमन साम्राज्य में कॉन्स्टैण्टीन द्वारा ईसाईकरण के बाद फल-फूल रहा था। यह वह समुदाय था जो प्राचीन नगर-राज्यों के पुराने कुलीन वर्गों के बरक्स एक नये क़िस्म की व्यवस्था और नये क़िस्म के राज्य की नुमाइन्दगी कर रहा था। ईसाई समुदाय और धर्म के टेरी ईगलटन के चित्रण में कुछ भी ऐतिहासिक नहीं है। यह बाइबिल की व्याख्यात्मक टिप्पणी के समान है, जो किसी ऐसे कैथोलिक पादरी ने की हो जो वामपन्थ के प्रति रुझान या हमदर्दी रखता हो।

अन्त में, ईगलटन एक बात जोड़ देते हैं ताकि पाठक उनकी किताब को एक बहुत बड़ा चुटकुला न समझ लें। अन्त में वह बोलते हैं कि नयी ईसाईयत पूँजीवाद और शासक वर्गों का उपकरण बन गयी है। लेकिन वह फ़ौरन तर्जनी उठाकर बताते हैं कि यह वास्तविक ईसाईयत नहीं है। यह बुरी ईसाईयत है। अच्छी ईसाईयत पुरानी कैथोलिक ईसाईयत है। और डॉकिंस और हिचिंस को उस ईसाईयत के धर्मग्रन्थों को पढ़ना चाहिए! इस तरह से मामला अच्छे धर्म बनाम बुरे धर्म या अच्छा ईश्वर बनाम बुरा ईश्वर पर आकर रुकता है। यह एक काफ़ी पुराने वाकये की याद दिलाता है। एक दौर में, ऑट्ज़ोविस्ट दार्शनिकों, बोग्दानोव, अर्न्स्ट माख़ और नियत्शे के प्रभाव में आकर गोर्की और लुनाचास्र्की के सिर पर भी ईश्वर-निर्माण का भूत सवार हुआ था। यह ईश्वर पुराने धार्मिक ईश्वर से भिन्न होगा, जो कि बुरा ईश्वर है। इसलिए एक अच्छा ईश्वर बनाया जाना चाहिए! लेनिन ने इस विचार की धज्जियाँ उड़ाते हुए लुनाचास्र्की और गोर्की की तीखी आलोचना की और उनके कुतर्कों को खण्डित करते हुए मार्क्सवाद की ऐसे रहस्यवाद, अज्ञेयवाद और धार्मिकता से हिफ़ाज़त की, जो तमाम ऑट्ज़ोविस्ट दार्शनिक नवकाण्टवाद के रूप में मार्क्सवाद में घुसाने की कोशिश कर रहे थे। मेरे विचार में ईगलटन मार्क्सवाद के प्रकाण्ड विद्वान हैं और उन्होंने उन तर्कों को निश्चित तौर पर पढ़ा होगा। लेकिन जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, यहाँ प्रश्न तर्क का है ही नहीं! टेरी ईगलटन भावुक होकर ईसाईयत के ऋण से उऋण होना चाहते हैं। बाल्ज़ाक की एक प्रसिद्ध कहानी है 'नास्तिक का यज्ञ' जिसमें एक नास्तिक अपने एक प्रिय की मौत पर नास्तिक होने के बावजूद उसे एक श्रद्धांजलि के तौर पर उसकी आख़िरी इच्छा के अनुसार एक यज्ञ आयोजित कराता है। टेरी ईगलटन की ईश्वर रक्षा इससे कुछ मिलती-जुलती प्रतीत होती है। लेकिन पूरी वैसी भी नहीं है। क्योंकि टेरी ईगलटन के मन में धर्म और ईश्वर के प्रति कुछ वास्तविक भावनाएँ भी हो सकती हैं। हाल ही में, एक साक्षात्कार में जब उनसे पूछा गया कि क्या वह ईश्वर के अस्तित्व में भरोसा करते हैं, तो उन्होंने गोल-मोल जवाब दिया और कहा कि इंसान एक साथ दो आस्थाएँ रख सकता है। उनका इशारा मार्क्सवाद और ईसाई धर्म की तरफ़ था। ईश्वर के अस्तित्व के बारे में राय पूछे जाने पर वह हमेशा मुस्करा देते हैं, या कन्धे उचका देते हैं, जिसका आप कोई भी मतलब निकाल सकते हैं! लेकिन इन सभी विचित्र भाव-भंगिमाओं के बावजूद टेरी ईगलटन का असतत् मार्क्सवाद छिप नहीं पाया है। वास्तव में टेरी ईगलटन साहित्य आलोचना में मार्क्सवाद का एक विश्लेषण के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करने में माहिर हैं, और यह काम वह शानदार तरीक़े से करते हैं। लेकिन वास्तविक जीवन में उनका जुड़ाव या तो त्रात्स्कीपन्थियों से रहा और या फिर सामाजिक-जनवादियों से। वह कल्याणकारी राज्य की नीतियों का भी समर्थन करते रहे हैं। वास्तव में, जब उन्होंने कहा था कि ईसा आज के वामपन्थियों से ज़्यादा वामपन्थी थे, तो हो न हो उनके मन में अपना ही ख़याल रहा होगा! कम-से-कम मेरे मन में तो सबसे पहला नाम उन्हीं का आया! कहा जा सकता है टेरी ईगलटन एक सतत् मार्क्सवादी नहीं हैं। राजनीतिक तौर पर, वह त्रात्स्कीपन्थ के क़रीब रहे हैं जो मार्क्सवाद की आगमनात्मक पद्धति की बजाय निगमनात्मक पद्धति का अनुसरण करता है और निष्क्रियतावादी शेखचिल्लीवाद और दुस्साहसवाद का शुरू से शिकार रहा है। साहित्य आलोचना में उन्होंने शुरुआत एक कैथोलिक वामपन्थी के तौर पर की, उसके बाद उनका झुकाव अल्थूसरवादी पियेर मशेरी की तरफ़ रहा; 1983 आते-आते वह फूको से भी थोड़ा प्रभावित हो चुके थे; मनोविश्लेषण और नारीवाद का प्रभाव भी 1980 के दशक के समाप्त होते-होते उन पर साफ़ तौर पर देखे जा सकते हैं; यह सच है कि उनकी प्रमुख वैचारिक धुरी मार्क्सवाद ही रही, लेकिन यह आलोचना के क्षेत्र में भी एक सतत् मार्क्सवाद नहीं था, बल्कि तमाम विजातीय विचार सरणियों से प्रभावित मार्क्सवाद है।

अब उस पृष्ठभूमि को भी संक्षेप में जान लिया जाये जिसमें टेरी ईगलटन ने धर्मध्वजा रक्षा का बीड़ा उठाया है, तो बात पूरी तरह से साफ़ हो जायेगी। टेरी ईगलटन के ये नवीनतम क़दम एक विशिष्ट परिवर्तन से प्रेरित हैं। यह परिवर्तन साम्राज्यवादी देशों की सत्ताओं की प्रणाली में आये एक परिवर्तन से कहीं न कहीं जुड़ा हुआ है। नियोकंज़र्वेटिव रणनीति में कुछ बदलाव आये हैं जिनका

प्रभाव पूरे शैक्षणिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक जगत की संस्थाओं, व्यक्तियों और परम्पराओं पर पड़ा है। यह परिवर्तन है बुश के समय के कट्टरतावाद से एक दिखावटी उदारवाद की ओर संक्रमण। इस संक्रमण की एक विशेषता है सिंक्रेटिज़्म। सिंक्रेटिज़्म का शाब्दिक अर्थ है कई विचारधाराओं का मिश्रण। अमेरिका में आज जो सिंक्रेटिस्ट रुझान है, उसका मक़सद है यह दिखलाना कि विज्ञान की आधुनिकतम खोजों और धर्म के सिद्धान्तों में कोई अन्तरविरोध नहीं है; बल्कि ये एक-दूसरे के पूरक होते हैं क्योंकि एक सत्य तक पहुँचने के दो अलग-अलग रास्ते धर्म और विज्ञान मुहैया कराते हैं! यह वही बकवास है जो हिन्दुस्तान के आधुनिक हिन्दुत्ववादी भी करते हैं। और यह अमेरिका में भी उतनी ही उबाऊ बकवास है जितनी की हिन्दुस्तान में। सिंक्रेटिस्ट प्रवृत्ति विज्ञान और धर्म के बीच टक्कर को रोकती है, जबकि पुरानी कट्टरवादी प्रवृत्ति विज्ञान की कोई परवाह नहीं करती थी। एक देश के राष्ट्रपति के सपने में ईसा प्रकट होते थे और कहते थे कि आतंक पर युद्ध छेड़ दो और वह देश युद्ध छेड़ देता था! अब वह दौर नहीं है। राजसत्ता के काम करने के तरीक़े में कुछ बदलाव आये हैं। अब हर चीज़ के लिए विज्ञान और धर्म दोनों की सहमति माँगी जाती है। और इस प्रवृत्ति के मज़बूत होने के साथ ही उन संस्थाओं के दिन बहुर गये जो इसी मक़सद से बनायी गयी हैं कि धर्म और विज्ञान के बीच बेमेल मेल कराया जाये। ऐसी ही एक संस्था है टेम्पलटन फ़ाउण्डेशन। यह संस्था धर्म के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने वालों को पुरस्कार से नवाज़ती है। अब देखिये इस पूरे सन्दर्भ में टेरी ईगलटन का प्रवेश कैसे होता है। टेरी ईगलटन ने पिछले वर्ष अमेरिका की अपनी यात्रा की शुरुआत एक हार्वर्ड क्लब के बुक फ़ोरम से की। ज़रा तुक्का मारिये कि इस पूरे आयोजन की फ़ण्डिंग किसने की? जी हाँ, टेम्पलटन फ़ाउण्डेशन ने। इसके बाद टेरी ईगलटन ने अपनी एक पुस्तक में एक कनाडाई मूल के कैथोलिक चार्ल्स टेलर की तारीफ़ों के पुल बाँधते हुए उनकी पुस्तक 'दि सेक्युलर एज' को एक अद्वितीय उपलब्धि बताया। अब सोचिये कि चार्ल्स टेलर कौन हैं? इन्हें टेम्पलटन ग्रैण्ड प्राइज़ से नवाज़ा गया है जिसमें 15 लाख डॉलर दिये जाते हैं! यह किसी भी व्यक्ति को दिया जाने वाला सबसे बड़ा पुरस्कार है! और बताइये ज़रा, हमें अभी तक पता भी नहीं था। पिछली बार का टेम्पलटन पुरस्कार किन्हीं बिली ग्राहम को मिला था जिन्होंने फ़रिश्तों पर एक पुस्तक लिखी है! अब ईगलटन ने धर्म रक्षा का जो नेक काम किया है, तो वह भी यह पुरस्कार पाने की उम्मीद कर सकते हैं!

ईगलटन द्वारा नास्तिकता पर हमले के बाद से तमाम धार्मिक संगठनों ने हर जगह उनके लिए लाल क़ालीन बिछा दी है। इसका कारण यह है कि सिंक्रेटिस्ट प्रवृत्ति के संगठनों के लिए ईश्वर पर किया जाने वाला कोई भी हमला या जनता के बीच किसी का नास्तिक होना कोई ख़ास मायने नहीं रखता। लेकिन अगर कोई वैज्ञानिक प्रमाणों और तथ्यों समेत धर्म को और ईश्वर के अस्तित्व को ख़ारिज करता है, तो ये लोग तिलमिला उठते हैं। इसका कारण यह है कि सिंक्रेटिस्ट प्रवृत्ति का मक़सद ही विज्ञान से धर्म के लिए सहमति लेना है। ऐसे में अगर कोई वैज्ञानिक धर्म और ईश्वर की बखिया उधेड़ने लगे तो आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि सिंक्रेटिस्ट प्रवृत्ति का अनुसरण करने वालों की क्या प्रतिक्रिया होगी। यही कारण है कि डॉकिंस पर ईगलटन द्वारा किये गये हमले ने ईगलटन को सिंक्रेटिस्ट ईसाइयों का चहेता बना दिया है। और एक मार्क्सवादी द्वारा नास्तिकता पर हमला? इससे बेहतरीन चीज़ ईसाईयत या किसी भी धर्म के ईश्वर के लिए क्या हो सकती है? इसलिए ज़ाहिर है, ईगलटन को लपक लेने के लिए सारे धार्मिक संस्थाओं और संस्थानों में होड़-सी मच गयी है।

अब देखिये कि टेरी ईगलटन और क्या करते हैं। 2008 में वह टेरी लेक्चर देते हैं (इस 'टेरी' का टेरी ईगलटन से कोई सम्बन्ध नहीं है)। टेरी लेक्चरशिप की स्थापना 1905 में हुई थी। इसका मक़सद है विज्ञान और धर्म के सत्यों को मिश्रित कर एक नये मानवीय, व्यापक और शुद्ध धर्म की रचना करना। और टेरी ईगलटन यहाँ 2008 में क्या करने आते हैं? नास्तिकता पर हमला! कुछ बताने की ज़रूरत नहीं है, स्थिति ख़ुद ही साफ़ है।

बहस और इस बहस के व्यापक सन्दर्भों से चीज़ें साफ़ हैं। टेरी ईगलटन के मार्क्सवाद का चरित्र भी साफ़ है। यहाँ मेरा मक़सद टेरी ईगलटन द्वारा मार्क्सवादी आलोचना में किये गये काम को कम करना क़तई नहीं है। मेरा कहना सिर्फ़ इतना है कि यहाँ मार्क्सवाद महज़ विश्लेषण का एक उपकरण है, जैसे कि तमाम अकादमिकों के लिए होता है। और जहाँ टेरी ईगलटन राजनीतिक रूप से सक्रिय हैं, वहाँ वह टोनी क्लिफ़ के ब्राण्ड के त्रात्स्कीपन्थी हैं। त्रात्स्कीपन्थ अपने पैस्सिव रैडिकलिज़्म के लिए ही जाना जाता है और अंग्रेज़ी में उसके लिए एक और शब्द भी चलता है 'बिग माउथेड एम्प्टी टॉकिंग'। निजी जीवन के धरातल पर और एक विश्व-दृष्टिकोण के धरातल पर मार्क्सवाद को अपनाने में कई स्थानों पर ख़ाली स्थान छूटे रह गये हैं। टेरी ईगलटन द्वारा ईश्वर की रक्षा में लिखी गयी किताब और उनके द्वारा लिखी गयी समीक्षा भावनात्मक रूप से व्यथित एक ऐसे व्यक्ति द्वारा बोले गये अर्थहीन शब्दों के एक ढेर के समान है, जिसके पिता को गाली दे दी गयी हो! हम बस उम्मीद कर सकते हैं कि टेरी ईगलटन अपने इन विचलनों के बारे में सोचेंगे। यही कह सकते हैं कि ईश्वर टेरी ईगलटन को सद्बुद्धि दे!

साहित्य

कविता कृष्णपल्लवी की पाँच कविताएँ

कारवाँ

(एक)

कुछ यात्राएँ
कभी अकेले करनी होती हैं
ताकि
कुछ यात्राएँ की जा सकें
कारवाँ में शामिल होकर।

(दो)

आज शामिल हुई
एक जुलूस में
यादों के।
कल एक कारवाँ में
शामिल होना है
सपनों के।

(तीन)

गुबार बता रहा है
इधर से
गुज़रा है
एक कारवाँ।
हमें अपनी रफ़्तार
तेज़ करनी होगी।

जिन्हें हम प्यार करना चाहते थे

कहाँ गये वे तमाम सुन्दर, सच्चे
और शक्तिशाली लोग
जिन्हें प्यार करने का सपना देखते हुए
हम सयाने हुए।
बौनेपन के इस प्रदेश में
वीरता और त्याग को

बेवकूफ़ी या कोई काल्पनिक चीज़
समझा जाता है।
तमाम सुन्दर-सच्चे-शक्तिशाली-गर्वीले लोग
हमारी उम्र से पहले पैदा हुए
या फिर जब पैदा होंगे
तब शायद हम बुढ़िया इजरगिल की
उम्र को पहुँच रहे होंगे।
स्तेपी में छिटकती नीली चिंगारियों को
देखते हुए तब बतायेंगे हम
उस समय के शानदार, सच्चे, युवा लोगों को
जलते हुए हृदय वाले
सुन्दर, शक्तिशाली दान्को जैसे लोगों के
बारे में जो हमारे समय से
पहले पैदा हुए थे।

(बुढ़िया इजरगिल और दान्को के सन्दर्भों को जानने के लिए पढ़िये मक्सिम गोर्की की कहानी "बुढ़िया इजरगिल")

मुहिम

एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन था
जहाँ बादलों ने विदाई दी मुझे।
फूल अलग हुए कहीं
हिमालय की तलहटी में।
गीतों के साथ
आख़िरी शाम बीती थी
कहीं किसी घाटी में।
रंग उड़ गये थे शायद
सदियों पहले गुज़री किसी गर्मी में
किसी एक व्यस्त महानगर की
आपाधापी में।
और तमाम युद्धों से लहुलुहान जब मैं
एक रेगिस्तानी इलाक़े के अस्तपताल में
पड़ी थी अकेली,
मुझे बताया एक बूढ़े दरवेश ने
कि वहाँ से बाइस कोस दूर
पूरब के एक घने जंगल में
एक कैम्प में मेरा इन्तज़ार कर रहे हैं
कुछ लोग –
बादल, फूल, गीत और रंग....
यही.....या ऐसे ही कुछ शायद नाम हैं उनके।

नयी-नयी खोजें

एक दिन मेरी कविताओं से
झाँका मेरे बचपन ने
उत्सुक निगाहों से
और मैने एक माँ की तरह
महसूस किया।
मैंने खोज निकाला
अपना गर्म हृदय
और आग की खोज की एक बार फिर।
एक दिन मैंने लोरी सुनी
किसी के गीतों में
और सोती हुई
सपनों में तैरने के लिए
पंखों की खोज की एक बार फिर।
एक दिन मैंने बत्तखों को देखा
झील की सतह पर प्यार करते
और पानी काटने के लिए
चप्पू ईजाद किये फिर से।
एक दिन मैंने देखा
एक बूढ़ी स्त्री का उन्मत्त नृत्य
और पहियों का आविष्कार किया
एक बार फिर।

तलाश

मुझे किसी चीज़ की
तलाश है।
पता नहीं, किस चीज़ की
पर एक बेचैन तड़प की तरह
लगातार
लगातार
मैं खोज रही हूँ
कोई एक चीज़
जिसकी तलाश है मुझे –
कभी एक खोजी यात्री की तरह
कभी एक टोही दस्ते की तरह
ढूँढ़ रही हूँ मैं
चीज़ों, शहरों, आत्माओं को
उलटती, पलटती
सब कुछ अस्त-व्यस्त करती
बहुतेरी चीज़ें काम की
हाथ लग रही हैं इस दौरान
पर वो नहीं
जिसकी मुझे तलाश है।
शायद वह चीज़ भी गतिमान है,
लगातार मुझे छका रही है,
सज़ा दे रही है मुझे
जीने के मज़े चखा रही है।

पुस्तक समीक्षा

प्रेम की आज़ादी के लिए परम्परा से विद्रोह

(प्रस्तुत पुस्तक समीक्षा में साथी ***रवीन्द्र कुमार पाठक*** *द्वारा प्रस्तुत सभी प्रस्थापनाएँ उनके व्यक्तिगत विचार हैं। हम उनके विचारों से और आलोचनात्मक टिप्पणियों से मोटे तौर पर सहमति रखते हैं, हालाँकि कुछ ऐसे विचार हैं जिन पर सम्भवत: और चर्चा और बातचीत की आवश्यकता है। मिसाल के तौर पर, साथी रवीन्द्र ने इस बात पर आपत्ति की है कि मार्क्सवादी अक्सर पूँजीपति को महज़ "पुरुष" के रूप में देखते हैं, जो किसी ऐसे पूँजीवाद की सम्भावना से इंकार करता है, जिसमें स्त्री पुरुष का वस्तुकरण करती हो, या उस पर शासन करती हो। एक सैद्धान्तिक सम्भावना के तौर पर यह सम्भव हो सकता है, लेकिन ऐतिहासिक तौर पर ऐसा हुआ नहीं है। जैसा कि सुवीरा जायसवाल ने अपनी पुस्तक "कास्ट" में लिखा है, पितृसत्ता वर्ग और राज्य के साथ ही अस्तित्व में आयी है और उसी के साथ समाप्त होगी। पितृसत्ता इतिहास में एक निश्चित सन्दर्भ में, कुछ निश्चित कारणों से पैदा हुई; वर्ग समाज श्रम विभाजन के अधिक सार्वभौमिक और सामान्य रूप के फलस्वरूप अस्तित्व में आया। वर्ग समाज के अस्तित्व में आने के बाद हम हर नये चरण में एक नये क़िस्म की पितृसत्तात्मकता की बात कर सकते हैं। दास समाज की पितृसत्तात्मकता से सामन्ती समाज की पितृसत्तात्मकता भिन्न थी; ठीक उसी प्रकार जैसे कि सामन्ती समाज में मौजूद पितृसत्तात्मकता से पूँजीवादी समाज की पितृसत्तात्मकता भिन्न होगी। लेकिन एक बात साफ़ है कि हर नये वर्ग समाज ने पितृसत्तात्मक संस्थाओं को अपने संचय की प्रणाली के अनुसार समायोजित और सहयोजित किया। यह एक काउण्टर-फ़ैक्चुअल इतिहास जैसा होगा कि हम किसी ग़ैर-पितृसत्तात्मक पूँजीवाद की बात करें; इसीलिए इसे एक मात्र सैद्धान्तिक सम्भावना कहा जा सकता है; यथार्थवादी या वास्तविक सम्भावना नहीं। हाइपोथेटिकली, निश्चित रूप से किसी ग़ैर-पितृसत्तात्मक समाज में अगर सारी पूँजी बराबर-बराबर स्त्री और पुरुष में बाँट दी जाती तो जेण्डर उत्पीड़न का कोई एक विशिष्ट रूप (जैसे कि पितृसत्तात्मक) ही नहीं मौजूद होता, बल्कि बहुल और वर्णसंकर रूप मौजूद होते। लेकिन अगर आज सारी पूँजी को बराबर-बराबर स्त्रियों में बाँट दिया जाये तो स्त्रियाँ भी पितृसत्तात्मक व्यवहार ही करेंगी। कारण यह है कि पितृसत्ता मात्र व्यक्ति-आधारित परिघटना नहीं है, बल्कि यह एक व्यवस्थात्मक (सिस्टेमिक) व संस्थागतीकृत (इंस्टीट्यूशनलाइज़्ड) परिघटना है। इसलिए, विक्टोरियन काल का ब्रिटेन स्त्रियों के अधीनीकरण के लिए जाना जाता है; या फिर, मार्गरेट थैचर के प्रधानमन्त्रित्व काल में स्त्रियों की पराधीनता को सशक्त बनाने वाले सबसे अधिक क़दम और नीतियाँ अस्तित्व में आये; एक दूसरे सन्दर्भ में, अमेरिका का नवोदित तथाकथित ब्लैक कैपिटलिज़्म (जहाँ मालिक अश्वेत है) भी अश्वेतों के लिए श्वेतों के मुक़ाबले ज़्यादा शोषणकारी है; क्योंकि पूँजीवाद एक सिस्टेमिक परिघटना के तौर पर अश्वेतों को सामाजिक-आर्थिक संरचना में ज़्यादा अरक्षित बनाता है। बहरहाल, संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि आज स्त्री पूँजीपति भी अपनी इच्छा से स्वतन्त्र उस सिस्टेमिक गति के अधीन है जो पितृसत्तात्मक चरित्र रखने वाली पूँजीवादी व्यवस्था पैदा करती है। इसलिए, यथार्थवादी और ऐतिहासिक तौर पर देखें तो यह कथन सही है कि पूँजी का चरित्र सामान्य तौर पर पितृसत्तात्मक ही है। "अगर" का सवाल हमें प्रति-तथ्यात्मक इतिहास (काउण्टर फ़ैक्चुअल हिस्टरी) में ले जाता है और जितने जवाब नहीं देता, उससे ज़्यादा सवाल पैदा करता है। लेकिन हम साथी रवीन्द्र की मूल प्रस्थापनाओं से सहमत हैं और उनके इस योगदान के लिए उन्हें धन्यवाद देते हैं, और साथ ही आगे भी इस बौद्धिक विनिमय को जारी रखने का आग्रह करते हैं। –* ***सम्पादक****)*

कात्यायनी हिन्दी की स्थापित कवयित्री ही नहीं, अत्यन्त सुलझी हुई विमर्शकार भी हैं। उनकी सोच अग्निधर्मी स्पष्टता से भरी है, जो सामाजिक सरोकारों से जुड़ी है। उनकी विचार-शक्ति को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि सहयोग देती है, पर उनका विचारक उस से अधिक समाज के प्रति प्रतिबद्ध है। उनकी ताज़ा पुस्तक "प्रेम, परम्परा और विद्रोह" को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है, जो एक दीर्घ निबन्ध के रूप में लिखी गयी है।

आम धारणा के अनुसार "प्रेम" रूहानी छुअन वाला भाव है, जो इंसान के जीवन की पथरीले डगर में मृदुल उड़ान के पर लगा देता है तथा उसके सोये अस्तित्व को जगाकर, उसे सार्थकता प्रदान करता है। आत्मा को परमात्मा की अनुभूति कराने वाले मानवीय भाव के रूप में भी "प्रेम" बहुधा समझा जाता रहा है। लेकिन, कात्यायनी ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि "प्रेम कोई जैविक आवेग, ईश्वरीय वरदान या समाज-निरपेक्ष भावना नहीं होता। प्रेम की अवधारणा सामाजिक वर्गीय संरचना से स्वतन्त्र, शाश्वत और विविक्त नहीं होती। जिस प्रकार वर्ग-समाज में जेण्डर एक जैविक तथ्य से भी कहीं अधिक एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम भी एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है।" (पृष्ठ 25-26)

"प्रेम" को सामाजिक निर्मिति ठहराने वाली यह व्याख्या निश्चय ही नवीन है। इसका लक्ष्य प्रेमानुभूति में मिलने वाली आत्मिक तन्मयता का निषेध करना नहीं, बल्कि "प्रेम" के चरित्र की ज़मीनी जाँच है। यदि हम ध्यान से देखें, तो "प्रेम" मूलत: एक भौतिक घटना ही है, न कि आकाश से टपक पड़ा कोई ईश्वरीय जल। कारण, जब तक दो लोग (स्त्री-पुरुष) मिलेंगे नहीं, साहचर्य में न रहेंगे, तब तक "प्रेम" पैदा ही नहीं हो सकता। प्रेम के जन्म व विकास का पूरा आधार व परिधि-साहचर्य-शुद्ध रूप से भौतिक है। भौतिक परिस्थिति, जिसमें यह घटना घटती है, की विशेषता या उतार-चढ़ाव से "प्रेम" के स्वरूप में भी उतार-चढ़ाव होता है। कात्यायनी भी "सामाजिक-आर्थिक संरचना में परिवर्तन के साथ प्रेम के अवबोध और अवधारणा में परिवर्तन" की बात कहकर इसी तथ्य को लक्षित करती हैं। फिर, प्रेम की बहुकथित आत्मगतता/आत्मिकता क्या है? वस्तुत: प्रेम की आत्मगतता/आत्मिकता इससे अलग कुछ नहीं है कि वह (प्रेम) अपने बोध में अधिकाधिक सूक्ष्मता एवं दीर्घकालीन स्थिरता का रूप ले चुका होता है।

जैसा कि पुस्तक की "पश्च टिप्पणी" में कहा गया है – गुजरात, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अन्तरजातीय या अलग धर्मों के बीच के रिश्ते में गये प्रेमी युगलों के साथ हिन्दुत्ववादी-फ़ासिस्ट गुण्डों और क़बीलाई मानसिकता की पंचायतों की निरंकुश सत्ता द्वारा की गयी नृशंस कार्रवाइयों से उद्वेलित होकर कात्यायनी को इस विषय पर लिखने का विचार आया। अत: पुस्तक की सामयिकता सिद्ध होती है। किन्तु, इसका आशय यह नहीं कि इस प्रकार की कृति केवल भारतीय सन्दर्भ में प्रासंगिक है। पाकिस्तान-अफ़गानिस्तान के साथ कई पिछड़े एशियाई देशों (विशेषत: अरब देशों) में युवा जोड़ों का प्रेम इसी बर्बर अभिशाप का शिकार है। इस सन्दर्भ में भी कृति पठनीय है। साथ ही, इस में "प्रेम" एवं स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की जो ऐतिहासिक-भौतिकवादी समझ झलकती है, वह इसे दीर्घकालिक-वैश्विक महत्त्व प्रदान करती है।

"प्रेम" व्यक्ति को अस्तित्व बोध कराने वाली भावना है। किसी की एकनिष्ठ-आत्यन्तिक चाहत का केन्द्र बन जाना किसी व्यक्ति को अपने महत्त्व का अहसास कराता है, जिस से दबा-कुचला उसका व्यक्तित्व भी अदम्य जागृति को उपलब्ध होता है। सामाजिक संरचनाएँ इंसानों के व्यक्तित्वों को दबा-मारकर या अनुकूलित करके ही खड़ी होती हैं या अब तक ऐसा रहा है। इसी से कोई प्रेमी ऐसे समाजों के लिए एक ख़तरे से कम नहीं लगता। यही कारण है कि प्रेम करने वालों को अपनी इस प्रकृति-सिद्ध आज़ादी के लिए समाज से विद्रोह करना पड़ता है अथवा ऐसे समाज उनके इस सहज अधिकार-प्रयोग को उनका विद्रोह मान लेते हैं। प्रेमाधिकार के लिए युवा-चित्त के विद्रोह को हार्दिक समर्थन देने के लिए कात्यायनी ने गम्भीर विचार-भूमियों की यात्रा की है। इसके साथ, वे प्रेमियों की राह में रोड़े अटकाने वाली, उन्हें हिंसा का शिकार बनाने वाली संगठित सामाजिक-मज़हबी गुण्डागर्दी के ख़िलाफ़, बुद्धिजीवियों को संगठित करने के लिए भी उकसाती हैं।

प्रेम करने को सामाजिक विद्रोह मानने की इस परम्परा के सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि समाज के पितृसत्तामक आक्टोपसी जकड़बन्दी में पड़े होने के कारण, प्रेम करने के अधिकार को कुचलना मुख्यत: स्त्री-अधिकार को कुचलने के रूप में ढल जाता है। इसकी पृष्ठभूमि यह है कि ऐसे समाज में स्त्री-मुक्ति का एक सशक्त मार्ग स्त्री का प्रेम में पड़ जाना भी होता है। समस्त सन्दर्भों के साथ लेखिका का समीचीन प्रतिपादन है कि – "प्रेम की आज़ादी का सवाल रूढ़ियों से विद्रोह का प्रश्न है। यह जातिप्रथा के विरुद्ध भी विद्रोह है। सच्चे अर्थों में प्रेम की आज़ादी का प्रश्न स्त्री की आज़ादी के प्रश्न से भी जुड़ा है, क्योंकि प्रेम आज़ाद और समान लोगों के बीच ही वास्तव में सम्भव है।" (पृष्ठ 18)

स्त्री-पुरुष के प्रेम करने की आज़ादी के प्रश्न को कात्यायनी बुनियादी अधिकार का प्रश्न मानती हैं। उनके मत से प्रेम चूँकि "सोशल कंस्ट्रक्ट" है, इसलिए प्रेम करने की आज़ादी का प्रश्न सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के बुनियादी प्रश्न पर टिका हुआ है। तात्कालिक तौर पर, जातिवादी पंचायतों अथवा तालिबान-श्रीराम सेना आदि कट्टरपन्थी संगठनों की गुण्डागर्दी के संगठित प्रतिरोध में युवाओं के प्रेमाधिकार की रक्षा हो सकती हो, परन्तु यह अनिवार्य कार्यभार बिना आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये स्थायित्व को प्राप्त न होगा। चूँकि प्रेम का अधिकार जातिगत-धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति और स्त्रियों की आज़ादी के सवाल से भी अविभाज्यत: जुड़ा हुआ है, इसलिए इस समस्या का हल एक दीर्घकालीन संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव हैं।

"प्रेम" व स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध को ऐतिहासिक-

सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए लेखिका ने कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों का सहारा लिया है। फ्रेडरिक एंगेल्स की पुस्तक "परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति" को उद्धृत कर वे मानव-विकास के तीन मुख्य युगों के अनुरूप स्त्री-पुरुष सम्बन्ध (या विवाह) के तीन रूपों की उपलब्धि की बात रखती हैं – (1) जंगल युग में बहुविवाह (2) बर्बर युग में युग्म विवाह (3) सभ्यता युग में एकनिष्ठ विवाह और उसी से जुड़े व्यभिचार व वेश्यावृत्ति। एंगेल्स की प्रमुख स्थापना यह है कि एकनिष्ठ विवाह/परिवार की अन्तिम विजय या सभ्यता की शुरुआत का एक लक्षण था। पर, एकनिष्ठ परिवार पुरुष-श्रेष्ठता पर आधारित था, जिसमें पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए निर्विवाद पितृत्व वाली सन्तान पैदा करना स्त्री के लिए ज़रूरी था। यानी, यहाँ एकनिष्ठता का मतलब केवल स्त्री की एकनिष्ठता था; पुरुष कितनी भी स्त्रियों से वैवाहिक या विवाहेतर (काम) सम्बन्ध बनाने को स्वतन्त्र था। इस संरचना में स्पष्टत: स्त्री पुरुष के अधीन तथा वस्तुकृत थी – उसकी वासना-तृप्ति या उसके उत्तराधिकारी पैदा करने की मशीन बनकर। इस रूप में, इतिहास का प्रथम श्रम-विभाजन, वर्ग-भेद, वर्ग-शोषण/उत्पीड़न स्थापित हुए। इस संरचना का आधार स्त्री का सम्पत्ति शून्य होना और पुरुष के हाथों व्यक्तिगत सम्पत्ति का संकेन्द्रित होना था, जिसकी तरफ़ कात्यायनी ने सीधे-सीधे ध्यानाकर्षण न कराया है। एंगेल्स ने सवाल उठाया कि एकनिष्ठ [यानी स्त्री की एकनिष्ठता वाले] विवाह का कारणीभूत आर्थिक आधार – व्यक्तिगत सम्पत्ति – नष्ट कर देने अथवा उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो जाने यानी, समाजवादी क्रान्ति हो जाने पर वेश्यावृत्ति के ख़ात्मे के साथ क्या एकनिष्ठ विवाह भी मिट जायेगा? इस पर उनका प्रतिपादन है कि वेश्यावृत्ति तो मिट जायेगी, किन्तु "एकनिष्ठ विवाह-प्रथा मिटने के बजाय, पहली बार पुरुषों के लिए भी वास्तविकता बन जायेगी।" (पृष्ठ 31)। इस का कारण इतिहास में आविर्भूत वह नया तत्व है, जिसे "यौन-प्रेम" (सेक्स लव), भावावेगी प्रेम (पैशन लव) या "रूमानी प्यार" कहा जाता है। यह व्यक्तिगत होता है, प्रकृति से ही ऐकान्तिक होता है, इसी से इसके विकास के साथ सच्चे अर्थों में पुरुष-स्त्री का एकनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होगा। सामन्ती युग में "प्रेम" विवाह का कारण नहीं, बल्कि अनुपूरक होता था – पति-पत्नी (पत्नियों) के बीच आभासित प्रेम मनोगत प्रवृत्ति नहीं, वस्तुगत कर्त्तव्य था। वहाँ, स्त्री केवल भोग्या एवं वंश चलाने का निमित्त थी। "विवाह" से विद्रोह करके ही वहाँ "प्रेम" का सही रूप मिल सकता था।

लेखिका के मत से, व्यक्तिगत यौन-प्रेम की अवधारणा पूँजीवादी जनक्रान्तियों की देन है। "पूँजीवाद ने कम से कम प्रेम-विवाह के अधिकार (और प्रेम टूटने पर अलग होने के अधिकार) को मान्यता देने का एक प्रगतिशील काम किया।" (पृष्ठ 36)। किन्तु, जब तक पूँजीवाद का विनाश नहीं होगा तब तक सच्चे प्रेम की प्रतिष्ठा नहीं होगी। एकबारगी यह रोचक असंगति प्रतीत होती है, पर सच्चाई यह है कि बुर्जुआ जनवाद/पुनर्जागरण ने इस प्रेम का आदर्श भले दिया है, परन्तु बुर्जुआ (पूँजीवादी) सामाजिक-आर्थिक संरचना के रहते यह साकार नहीं हो सकता। पूँजीवाद इंसान की इंसान रूप में मुक्ति का दर्शन नहीं है। कात्यायनी कहती हैं कि बुर्जुआ नागरिक आत्म-अलगाव के शिकार होते हैं – भावना, सम्बन्ध आदि हर चीज़ को वस्तु के रूप में देखने की आदत से ग्रस्त होते हैं। इसी से वे प्यार करने में अक्षम होते हैं। पूँजीवाद ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को आर्थिक हितों के अधीन रखा है। स्त्री वहाँ पुरुष के अधीन है तथा पुरुष अमानवीयता का शिकार। विवाह के अनुपूरक रूप में वेश्यावृत्ति भी वहाँ है तथा "विवाह" क़ानून-सम्मत वेश्यावृत्ति बनकर रह गया है। सामन्ती मध्य युग में सर्वहारा स्त्रियाँ यदि सामन्त प्रभुओं (मर्दों) के खुले भोग की वस्तु थीं, तो पूँजीवादी युग में पूँजीपति/कारख़ानेदार (मर्दों) के लिए परदे के पीछे भोग का सामान बनी हुई हैं। इसके अलावा, बुर्जुआ नागरिक का पाखण्ड भी बड़ा है। वह परिवार/विवाह संस्था के आदर्शों का पालन नहीं करता, उसकी वचनबद्धता से पलायन करता हुआ, आपातकालीन निकासद्वार (बदचलनी, नाजायज़ रिश्ते, वेश्यागमन) खोजता रहता है, किन्तु फिर भी परिवार/विवाह संस्था को बनाये रखता है, क्योंकि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली और उसके आधिपत्य के लिए इसका बना रहना ज़रूरी है। "परिवार ही वह व्यावहारिक बुनियाद है, जिस पर बुर्जुआ वर्ग का आधिपत्य विकसित हुआ। (बुर्जुआ) परिवार की संस्था निहायत व्यावहारिक मसलों पर – आर्थिक मसलों पर टिकी होती है।" (पृष्ठ 43)। पूँजीवादी श्रम-विभाजन उत्पादन में शोषक-शोषित की कोटि बनाता है, उसी प्रकार परिवार में मानवीय पुनरुत्पादन के दायरे में स्त्री एवं पुरुष को क्रमश: गुलाम एवं मालिक का दर्जा दे देता है। पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्ध के अन्तर्गत सामाजिक श्रम-विभाजन से जनमे "अलगाव (एलियनेशन)" के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कात्यायनी ने अलगाव का चरम रूप इंसान के व्यक्तित्वहीन (यन्त्रीकृत साधन) हो जाने को माना है – जीवनानन्द, प्रेरणा, स्वप्न/कल्पना, प्यार की सम्भावना सबसे विलग पशु, दास या मशीन बनकर रह जाने को माना है। अलगाव का बुनियादी शिकार शारीरिक श्रम करने वाला मज़दूर होता है, परन्तु मानसिक श्रम करने वाले यानी पूँजीवादी उत्पादन-तन्त्र के संचालक और पूँजीपति भी अलगावग्रस्त होते हैं। आम इंसान को पूँजीपति चलाता या नचाता है, तो पूँजीपति को "पूँजी" नचाती है। इसी से कह सकते हैं कि पूँजीवादी समाज में सबको अन्तत: "पूँजी" ही नचाती है – उन्हें अलगाव का शिकार बनाती है। वे आत्म-अलगावग्रस्त चेतना से जिसे जीवनोपभोग, आनन्द या प्यार समझते हैं, वह वास्तव में एक विकृत व मिथ्या चेतना ही है। वह स्वयं पूँजी का ही व्यक्ति रूप होता है। इस तरह के प्रतिपादन करते हुए कात्यायनी की भाषा में कहीं-कहीं अधूरापन भी झलक जाता है, यद्यपि उनकी बातें तथ्यपूर्ण रहती हैं। मसलन, वे कहती हैं – "इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि एक बुर्जुआ नागरिक को सबसे अधिक ख़तरनाक स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व लगता है, पर विडम्बना यह है कि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली की स्वतन्त्र आन्तरिक गति

से स्त्रियों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और स्वतन्त्र अस्मिता का पैदा होना भी अपरिहार्य है।" (पृष्ठ 42)। या, "पत्नी भी उसके लिए (पूँजीपति के लिए) अपने पूँजी-साम्राज्य का उत्तराधिकारी पैदा करने वाले उत्पादन के साधन से अधिक कुछ नहीं होती।" (पृष्ठ 41) उनके ये कथन हों अथवा उनके द्वारा उद्धृत मार्क्स के कथन – "बुर्जुआ अपनी पत्नी को उत्पादन के एक उपकरण के सिवा कुछ नहीं समझता" (पृष्ठ 48) या "मुद्रा स्वयं एक सार्वभौमिक वेश्या है और क़ौमों और राष्ट्रों की सर्वमान्य कुटनी है जो मानवीय आवश्यकता और उसकी पूर्ति के साधनों के बीच, मनुष्य और उसके जीवन के बीच, एक मनुष्य और अन्य मनुष्यों के बीच सौदेबाज़ी कराने और रिश्ते पटाने का काम करती है।" (पृष्ठ 45) भाषा के ये प्रयोग यह मानकर चलते हैं कि पूँजीपति या पूँजीवादी नागरिक "पुरुष" है। मुद्रा की वेश्या से उपमा भी पुरुषवादी भाषा के अन्तर्गत है, जिस तरह भृतहरि ने राजनीति को वेश्या की तरह बतलाया था ("वारांगनैव नृपनीतिरनेकरूपा" – *नीतिशतकम्*), उसी तरह यहाँ है। कात्यायनी का यह विचार तो सही है कि निजी सम्पत्ति या पूँजीवादी श्रम-विभाजन को समाप्त करके ही इंसान के व्यक्तित्व को विघटित होने से रोका जा सकता है – अलगाव (परकीयकरण) को समाप्त किया जा सकता है; जिससे वह प्यार करने में सक्षम बनेगा। परन्तु, इसी के साथ पूँजीवाद को स्त्री के वस्तुकरण के एक कारण के रूप में व्याख्यायित करना सवाल खड़े करता है। वैवाहिक वेश्यावृत्ति, वेश्यावृत्ति, सेक्स-रैकेटिंग, ट्रैफ़िकिंग आदि पूँजीवाद से जुड़े हैं अथवा पूँजीवाद की पितृसत्तात्मक संरचना से? यदि पूँजी पर पुरुष की तरह स्त्री का भी अधिकार हो – दुनिया की पचास-पचास प्रतिशत पूँजी पुरुष व स्त्री में बँट जाये, तो भी क्या स्त्री को ही पुरुष नचाता रहेगा? तब, क्या जिस तरह व जिस मात्रा में पुरुष स्त्री को वस्तु बनाता है, उसी तरह व उसी मात्रा में स्त्री भी पुरुष को वस्तु नहीं बनायेगी? परस्पर-अन्योन्य वस्तुकरण जब होगा, तब एकमुखी वस्तुकरण से जनमी उक्त संरचनाएँ (विवाह, वेश्यावृत्ति आदि) क्या नहीं बदलेंगी? क्या अन्योन्य वस्तुकरण में परस्पर व्यक्तित्व का उदय नहीं होगा? इस सवाल पर भी लेखिका को विचार करना चाहिए था। फिर भी, उनके इस प्रतिपादन में फ़िलहाल आपत्ति की गुंजाइश नहीं है कि पुनर्जागरण कालीन दार्शनिकों या यूटोपियाई समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत "यौन-प्रेम" का आदर्श यथार्थ में तभी बदलेगा जब बुर्जुआ आत्म-अलगाव/आत्म-निर्वासन ख़त्म होगा। आत्म-अलगाव के ख़त्म होने के लिए पूँजीवादी ढाँचे (निजी सम्पत्ति, श्रम-विभाजन का प्रचलित तरीक़ा) का ख़ात्मा ज़रूरी है। इसमें, सच्चाई है क्योंकि यह ढाँचा अन्ततः इंसान को वस्तु बनाकर रख देता है। सच्चे एकनिष्ठ यौन-प्रेम का मानवीय रूप केवल वर्ग-विहीन समाज में सम्भव होगा।

इसी सन्दर्भ में, कात्यायनी सावधान करती हैं कि प्रेमाधिकार की प्राप्ति हेतु, मध्ययुगीन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों/संस्थाओं के विरुद्ध संघर्ष पर्याप्त नहीं है। ऐसा करने से बुर्जुआ (पूँजीवादी) प्रेम का आदर्शीकरण होगा, जो वस्तुतः मिथ्याभासी प्रेम है – भेदभावमूलक भी है। सच्चे प्रेम के मार्ग में रोड़े अटकाने की बात केवल मध्यकालीन सामन्ती अवशेष नहीं है, बल्कि नवयुगीन पूँजीवादी कृतियाँ भी रोड़े बनाती हैं। उदाहरणार्थ, दहेज। इसे आमतौर पर पुरानी सामन्ती चीज़ माना जाता है, परन्तु आज नगरों के आधुनिक मध्यवर्ग में, व्यापारियों में इसका चलन सर्वाधिक है। दहेज के लिए स्त्रियाँ मार डाली जाती हैं और फिर दहेज बटोरने के लिए एक और विवाह का रास्ता साफ़ हो जाता है। यानी, दहेज व्यापार या उद्योग के लिए पूँजी जुटाने का एक माध्यम बन गया है – न कि महज़ सामन्ती शान का प्रतीक। यही कारण है कि पहले दहेज का ख़ूब प्रदर्शन होता था, पर आज यह परदे की ओट में लिया जाता है – पहले से कहीं ज़्यादा चमकदार चीज़ों के रूप में। इसी से, सामन्ती मूल्यों के साथ पूँजीवादी संरचनाओं को भी ध्वस्त करना होगा, ताकि सच्चे प्रेम करने वाले पुरुष-स्त्री सम्भव हों।

पूँजीवाद चाहे कितने भी उत्कृष्ट रूप में उभरकर आये, पर प्रेम की आज़ादी के लिए उसका अन्त करना ही होगा। ऐसा ही मन्तव्य है कात्यायनी का। फिर, भारत देश का क्या होगा जहाँ पूँजीवाद का विकास उनके अनुसार सामन्ती अवशेषों की पर्याप्त उपस्थिति के बीच हुआ। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति एवं पुनर्जागरण की शताब्दियों व्याप्त लम्बी प्रक्रिया से गुज़रकर पूँजीवादी समाज अस्तित्व में आया। इस प्रक्रिया में अधिकांश मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं का वर्चस्व वहाँ लगभग समाप्त हो गया तथा अपेक्षाकृत सेक्युलर (इहलौकिक) जीवन-दृष्टि व जनवादी मूल्य वहाँ के जीवन में रच-बस गये हैं। पर, भारत में मध्ययुगीन सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संरचना जब अन्दर से टूटने-बिखरने की दिशा में थी, उसी समय उपनिवेशीकरण (ब्रिटिश दासता) ने भारतीय समाज की स्वाभाविक आन्तरिक गति की हत्या कर दी। इसी से, आज जो भारतीय पूँजीवाद दिखता है, वह (यूरो-अमेरिकी) पूँजीवादी प्रगतिशील तत्वों से रहित – प्राक्पूँजीवादी मूल्यों (सामन्ती पितृसत्तात्मक मूल्यों) के साथ गँठजोड़ किये खड़ा – बेहद रुग्ण-विकलांग-बौना पूँजीवाद है। यह न मध्ययुगीन आर्थिक मूलाधार को तोड़ पाता है, न उसकी अधिरचना (जाति, जेण्डर आदि) को ही ध्वस्त कर पाता है। यही वह भेद है, जिसके तहत यूरो-अमेरिकी समाज में प्रेम दो व्यक्तियों का निजी मामला माना जाता है, किन्तु भारत में "प्रेम" को इस हद तक समाज विरोधी कृत्य माना जाता है कि प्रेमियों को बाक़ायदा जन-पंचायतों के निर्णय के तहत मार डालने तक की घटनाएँ हो जाती हैं; नहीं, होती रहती हैं। यूरोप-अमेरिका में बहुत हुआ तो दो लोगों के प्रेम/विवाह को किसी की व्यक्तिगत नापसन्दगी/विरोध झेलना पड़ सकता है, परन्तु भारत की तरह उसका संगठित मुखर विरोध या उस पर जालिम प्रतिक्रिया कभी नहीं होती। भारत का जनतन्त्र भी, इस देश के रुग्ण – विकलांग समाज के तुष्टीकरण पर टिका होने से प्रेम की आज़ादी को कुचलने वाली शक्तियों का ही कुल मिला-जुलाकर पोषण करता है। इन बातों का बेबाक बयान करने वाली कात्यायनी इस देश के बुद्धिजीवियों और तथाकथित प्रगतिशीलों की जमात को भी आड़े हाथों लेती हैं,

जो प्रेमियों की हत्या करने वाली बर्बर घटनाओं पर चुप्पी साधे रहती है अथवा विरोध की रस्मी कार्रवाई भर करके अपने सुविधाजीवी खोल में लौट जाती है – जो प्रेम-हन्ता समाज/संस्कृति के प्रति किसी संगठित जन-विद्रोह को आकार देते हुए इसलिए डरती है, क्योंकि इसमें उसे अपनी सुख-सुविधा के छिनने का जोखिम है। कात्यायनी का यह कहना बिल्कुल जायज़ है कि जिस समाज में तमाम जनवादी अधिकारों एवं समानता के दावों के बावजूद स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक हैं, वहाँ सच्चे अर्थों में प्रेम सम्भव ही नहीं है। सच्चे प्रेम या स्वस्थ विवाह की प्रतिष्ठा के लिए स्त्री की गुलामी का अन्त होना ज़रूरी है। स्त्री की गुलामी लम्बी समाजार्थिक संरचना से जुड़ी है, अतः स्त्री-मुक्ति हेतु पूरी संरचना (सामन्तवाद से लेकर पूँजीवाद तक) में आमूल-चूल परिवर्तन लाना होगा। यानी, वर्ग-विहीन समाज की रचना। इस तरह, इस पुस्तक के ज़रिये कात्यायनी स्त्री-विमर्श को समाजवादी दायरे में विस्तार देती हैं।

वर्ग-विहीन समाज की दिशा में जाने के लिए "समाजवादी व्यवस्था' की संक्रमण अवधि से गुज़रना पड़ता है। इस सन्दर्भ में, लेखिका सोवियत संघ (1917-1953), चीन (1949-1976), कोरिया, क्यूबा, पूर्वी यूरोपीय देशों में हुए समाजवादी प्रयोगों के दौरान, स्त्री की परिस्थिति में आये बदलाव के साथ सेक्स, विवाह, परिवार व स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में आये परिवर्तनों का इतिहास, विश्वसनीय स्रोतों से जानने की ज़रूरत बतलाती हैं। वेश्यावृत्ति और यौन अपराधों का उनमें पूरी तरह से ख़ात्मा हो गया था, जो मानव समाज के ज्ञात इतिहास में पहली बार हुआ था। इसी के साथ, कात्यायनी मार्क्स व लेनिन को उद्धृत कर फ़्री-सेक्स की अवधारणा ("गिलासभर पानी" का सिद्धान्त) को अराजक-उत्तरदायित्वहीन यौन सम्बन्ध के हिमायती भ्रान्तजनों का विचार ठहराती हैं। लेनिन यौन/प्रेम पिपासा की तृप्ति को गिलासभर पानी पीने की तरह सहज एवं महत्त्वहीन मानने वालों को ग़ैर-मार्क्सवादी व समाज विरोधी ठहराते हैं। उनका तर्क है कि पानी पीना व्यक्तिगत मामला है, पर प्यार में दो जीवन भागीदार होते हैं और एक तीसरा (नया) जीवन भी अस्तित्व में आता है। यहीं सामाजिक हित निहित है और यहीं समाज के प्रति कर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है।

मार्क्स के अनुसार, पुरुष व स्त्री का सम्बन्ध मानव प्राणी का मानव प्राणी के साथ सबसे प्राकृतिक सम्बन्ध है। ("मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1884")। इस पुस्तक के माध्यम से कात्यायनी ने इस सवाल का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है कि वह सम्बन्ध (प्रेम) सहज सम्बन्ध क्यों नहीं रह गया है और फिर उसे सहज रूप में स्थापित होने देने के लिए क्या परिवर्तन जीवन-व्यवस्था में लाना चाहिए? वे स्पष्ट कहती हैं कि "बुर्जुआ उत्पादन प्रणाली और अलगाव की अनिवार्य समाप्ति के बाद, विवाह और परिवार के बुर्जुआ स्वरूप का भी उन्मूलन हो जायेगा, स्त्री-पुरुष स्वतन्त्रता और समानता के साथ जोड़े बनायेंगे, स्त्रियाँ तब भोग एवं पुनरुत्पादन का साधन नहीं होंगी, वे पुरुषों पर निर्भर नहीं होंगी, दम्पत्ति नागरिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होंगे, बच्चे अपने माता-पिता पर निर्भर नहीं होंगे और चूल्हे-चौखट की दासता से मुक्त स्त्रियाँ सभी उत्पादक एवं सामाजिक कार्रवाइयों में बराबर की भागीदार होंगी।" (पृष्ठ 47-48)। फिर इसी का परिणाम "प्रेम" की दिशा में होगा, जो एंगेल्स के उद्धरण से वे कहती हैं – "ऐसे पुरुषों की पीढ़ी पनपेगी जिसे जीवनभर कभी किसी नारी की देह को पैसा देकर या सामाजिक शक्ति के किसी अन्य साधन के द्वारा ख़रीदने का मौक़ा नहीं मिलेगा, और ऐसी नारियों की पीढ़ी जिसे कभी सच्चे प्रेम के सिवा और किसी कारण से किसी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण करने के लिए विवश नहीं होना पड़ेगा और न ही जिसे आर्थिक परिणामों के भय से अपने को अपने प्रेमी के सामने आत्मसमर्पण करने से कभी रोकना पड़ेगा।" ("परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति") इसी के साथ, सम्बन्ध बनाना, जारी रखना या भार होने पर तोड़कर स्वतन्त्र होना – स्त्री-पुरुष की स्वेच्छा पर होगा, किसी मजबूरी/दबाव या प्रलोभन पर नहीं। तभी सच्चे प्रेम का आदर्श पूरी तरह साकार होगा।

कात्यायनी की प्रस्तुत पुस्तक स्त्री व पुरुष के प्रेम को असम्भव बनाने वाली समाजार्थिक परिस्थितियों का ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण करते हुए, उसे सम्भव बनाने हेतु समाजवादी क्रान्ति की पक्षधर है। इस विषय को स्पष्ट करने हेतु, कम्युनिज़्म की सैद्धान्तिकी का सहारा वे लेती हैं, जिससे किसी हद तक वह सैद्धान्तिकी भी पुस्तक विवेचित कर देती है। मात्र 64 पृष्ठों में दीर्घ निबन्ध की शक्ल में लिखी, यह स्त्री विमर्श से कुछ आगे की किताब है, जो भाषा की दुरूहता के बावजूद, पठनीय है। इस विषय पर इतनी यथार्थपरक वैचारिक कृति हिन्दी में अब तक, कम से कम मेरी दृष्टि में, नहीं आयी थी। "प्रेम" की हत्या करने की परम्परा से सन्दर्भित प्रत्यक्ष सामाजिक संकट से शुरू हुई यह रचना गहन विमर्श में परिणत होती है। यह शोध है, जो हमें बोध देता है, जिससे प्रेम की राह के अवरोध दूर करने की प्रेरणा मिलती है। "प्रेम'" को बचाना नर-नारी समता को बचाना है, "प्रेम" को लाना जीवन की सरसता व मधुरता को लाना है – इसी सन्दर्भ में पुस्तक का लेखन हुआ लगता है, तो अनुशीलन भी इसी सन्दर्भ में होना चाहिए।

पुस्तक – **"प्रेम परम्परा और विद्रोह"**
लेखिका – कात्यायनी
मूल्य – बीस रुपये
पृष्ठ – 64
प्रकाशक – परिकल्पना प्रकाशन, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226006

समीक्षक – **डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक**
(व्याख्याता, हिन्दी विभाग, जी.एल.ए. कालेज, डाल्टनगंज, झारखण्ड-822102)

सकर्मक विमर्श

अरूणिमा को ग़लत साबित करने का कुचक्र रचती सिद्धान्तहीन राजनीति

• अटल, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

तीन साल पहले नोएडा में आरुषि हत्याकाण्ड हुआ था। अभियुक्त अब तक पकड़े नहीं जा सके, लेकिन देश की ज़िम्मेदार जाँच एजेंसियाँ (छोटी से लेकर बड़ी तक) आरुषि व उसके माता-पिता के संम्बन्धों का मनगढ़न्त चिट्ठा सामने लाती रही हैं। इनसे चार क़दम आगे बढ़कर मीडिया 14 वर्षीय आरुषि के घरेलू नौकर हेमराज (जो उसी दिन मारा गया था) से अन्तरंग सम्बन्ध साबित करने में लगा रहा। कमोबेश यही हालात वॉलीबॉल खिलाड़ी अरुणिमा सिन्हा उर्फ़ सोनू के मामले में देखने को मिल रहे हैं। ज्ञातव्य है कि, उत्तर प्रदेश के शहर बरेली के निकट चनेहटी स्टेशन के पास ट्रेन में आधा दर्जन लुटेरों से भिड़ने वाली अरुणिमा को लुटेरों ने ट्रेन से फेंक दिया था। सोनू का एक पैर ट्रेन से कट गया, दूसरा टूट गया। पलक झपकते घटी इस घटना ने उसके भविष्य के सपने चकनाचूर कर दिये। मीडिया की नज़रें इनायत हुईं तो केन्द्रीय खेलमन्त्री ने 25 हज़ार रुपये की मदद की घोषणा कर दी। खेलमन्त्री का यह एक खिलाड़ी के साथ भद्दा मज़ाक़ था। एक खिलाड़ी अपना पूरा जीवन देश की सेवा में लगा देता है। पदक जीतकर पूरी दुनिया में नाम रोशन करता है। उसी पर मुसीबत पड़ने पर मदद के नाम पर 25 हज़ार रुपल्ली दिखाना कहाँ तक जायज़ है? इतनी रक़म तो छठा वेतनमान पाने वाले सबसे निचले स्तर के कर्मचारी को महीने में मिलती है। तभी तो दृढ़ इरादों वाली अरुणिमा ने खेलमन्त्री की इमदाद को ठोकर मार दी। कहा – "मेरे सामने लम्बा जीवन पड़ा है और मेरे सपने चकनाचूर हो गये हैं। मुझे यह मदद नहीं चाहिए।" अरुणिमा की इस लाइन ने केन्द्र से लेकर राज्य सरकार तक को अपने दामन में झाँकने को विवश कर दिया। आर्थिक मदद, नौकरी की पेशकश व इलाज ख़र्च की ज़िम्मेदारी उठाने का ऐलान करने लगे। ब्रिक्स सम्मेलन में हिस्सा लेने चीन गये प्रधानमन्त्री डॉ. मनमोहन सिंह ने अफ़सोस जताया। प्रधानमन्त्री कार्यालय ने रेल मन्त्रालय से रिपोर्ट तलब की तो राष्ट्रीय महिला आयोग ने उत्तर प्रदेश सरकार से। प्रधानमन्त्री कार्यालय के संज्ञान लेते ही मामले में राजनीति होने लगी। अरुणिमा को बरेली से सन्दर्भित कराकर लखनऊ के छत्रपति शाहूजी महाराज चिकित्सा विश्वविद्यालय ले आया गया। इसका श्रेय लेने की राज्य व केन्द्र सरकार में होड़ मच गयी। केन्द्रीय खेलमन्त्री अजय माकन दिल्ली से डॉक्टरों की टीम लेकर लखनऊ पहुँच गये तो राज्य सरकार के मंत्रियों और आला अफ़सरों की लाइन लग गयी। संक्रमण से बेपरवाह व डॉक्टरी हिदायत के बावजूद राजनेता व उनके साथ के लोगों का मेला लगा रहा। चिकित्सा विश्वविद्यालय किसी राजनीतिक पार्टी का मुख्यालय लगने लगा। अरुणिमा केस को राजनेता अपने राजनीतिक नफ़ा-नुक़सान के आईने से देखने लगे। इस चक्कर में हालात इतने ख़राब हो गये कि अरुणिमा के रिश्तेदारों को कहना पड़ा – "प्लीज़ आप लोग यहाँ से चले जाइये।" इस सिद्धान्तहीन राजनीति में ही अरुणिमा को यूपी सरकार के राजकीय विमान से एम्स भेजने का फ़रमान हो गया।

सियासत की शह-मात के बीच कुछ उजले पक्ष भी देखने को मिले। राजनीतिक दल जहाँ वॉलीबॉल खिलाड़ी को मदद देने के साथ श्रेय लेने में जुटे रहे। वहीं कुछ खेल संगठनों ने बिना हल्ला-गुल्ला अरुणिमा को आर्थिक मदद दी। क्रिकेटर हरभजन सिंह व युवराज सिंह ने एक-एक लाख रुपये देने का ऐलान किया। (हालाँकि, इतने रुपये ये क्रिकेटर जेब में रेज़गारी की तरह रखकर घूमते हैं!) युवराज ने पीड़ित खिलाड़ी का उत्साह बढ़ाते हुए कहा – "अरुणिमा के साथ जो कुछ भी हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण है। बहादुर खिलाड़ी की तरह उसने लुटेरों का मुक़ाबला किया। मैं जानता हूँ कि उसे हुए नुक़सान की भरपाई बेहद मुश्किल है, लेकिन मैं उसके लिए एक लाख की मदद का छोटा सा योगदान देना चाहता हूँ।" काश! यह बात राजनीतिक दलों के नुमाइन्दे समझते तो वे लोग पैर गँवा चुकी खिलाड़ी के साथ दिल से सहानुभूति जताते। उस पर राजनीति करने से बाज आते। जाँच एजेंसियाँ अभियुक्तों को पकड़ने के लिए दिन-रात एक करतीं, न कि अरुणिमा व उसके परिवार की पिछली कुण्डली बाँचने में समय ज़ाया करतीं। एडीजी जीआरपी ने यहाँ तक कहा – "अरुणिमा को ट्रेन से फेंकने का सबूत नहीं है। उसके राष्ट्रीय व प्रदेश स्तर के खिलाड़ी होने की पुष्टि नहीं है। लूट का नहीं, मामला आत्महत्या की कोशिश का लगता है। देश के खेल संगठन उसे नहीं जानते। सीआईएसएफ़ की परीक्षा सात मई को थी। चेन पर्स में मिली आदि।" स्पोर्ट्स अथॉरिटी ऑफ़ इण्डिया के अधिकारी खेल के उसके प्रमाण जाँचने अम्बेडकरनगर पहुँच गये। कुछ प्रमाणपत्र मिले तो उसकी जन्मतिथि ग़लत बताने का कुचक्र अख़बारों के ज़रिये रचा जाने लगा। वैसे मैं इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहता कि अरुणिमा किस स्तर की खिलाड़ी थी, और न मुझे उसकी तरफ़दारी और जीआरपी की बुराई करने का ठेका मिला है। एडीजी ने जो बात कही है उसकी पड़ताल अवश्य होनी चाहिए, लेकिन उसके लिए यह समय उचित नहीं था। अभी अरुणिमा व उसके परिवार को सम्बल की ज़रूरत है। ऐसे में ज़िम्मेदार अफ़सर की बातें उसे व परिवार को अवसाद में ले जा सकती हैं। वैसे जीआरपी के कुछ तर्कों की कलई अरुणिमा व उसके घरवाले ही खोल देते हैं। पहले जीआरपी ने कहा – अरुणिमा बिना टिकट यात्रा कर रही थी। टिकट मिलने पर कहा गया – टिकट दूसरी ट्रेन का था। परिवारीजन शुरू से चिल्लाते रहे कि सीआईएसएफ़ परीक्षा का अरुणिमा का प्रवेशपत्र नहीं आया था, इसलिए वह सीआईएसएफ़ के मुख्यालय नोएडा पता करने जा रही थी। वैसे जाँच एजेंसियों का यह फ़ार्मूला नया नहीं है कि मामले का सही खुलासा न होता दिखे तो जाँच की दिशा ही मोड़ दो, जैसा आरुषि-हेमराज हत्याकाण्ड में किया गया था।

एडीजी की बात सुनकर अरुणिमा ने कहा भी – "रेलवे मानसिक रूप से परेशान कर रहा है। जीआरपी ख़ुद को बचाने

के लिए उल्टे मेरे ऊपर आरोप लगा रही है।" मीडिया की भूमिका शुरुआत में कुछ सकारात्मक रही। उसी ने इसे मुद्दा बनाया, लेकिन बाद में वह जाँच एजेंसी की भाषा बोलने लगा। इतना ही नहीं वह उससे भी आगे निकल गया। उसका फोकस अरुणिमा व उसके परिवार के चरित्र पर केन्द्रित हो गया। बताया गया – अरुणिमा का भाई लूट के मामले में जेल जा चुका है। माँ के ख़िलाफ़ मामला दर्ज हो चुका है। घटना के समय अरुणिमा अपने जीजा के साथ थी। छेड़खानी के विरोध पर जीजा ने ही धक्का दिया। वह घर से लड़कर आयी थी। जैसा कि हमेशा होता है, अन्ततः मीडिया शासन-प्रशासन की ही भाषा बोलने लगा, बल्कि एक अच्छे चमचे की तरह उससे भी बढ़-चढ़कर बोलने लगा। हालाँकि वह हर घटना ख़ासकर अपराध की घटनाओं में यही करता है। उसकी यही भूमिका आरुषि और कवयित्री मधुमिता हत्याकाण्ड में देखी जा चुकी है, जिसमें पीड़िता के चरित्र हनन का ठेका उसने सालों-साल उठाये रखा। रही बात ट्रेनों में घटनाओं की तो यह कोई पहली व आख़िरी नहीं है। कुछ दिन पहले ही झारखण्ड नेशनल गेम्स में हिस्सा लेने गयी उत्तर प्रदेश की वुशू टीम की खिलाड़ियों से कानपुर स्टेशन पर सीआरपीएफ़ जवानों ने अभद्रता की थी। छेड़खानी, पॉकेटमारी, चोरी व लूट की घटनाएँ तो आम हैं। यदा-कदा डकैती भी पड़ जाती है, लेकिन जीआरपी इन्हें रोकने के बजाय होने वाले हादसों पर पर्दा डालने में अधिकतर समय ज़ाया करती है।

पूँजीवादी न्याय और मानवता के प्रचार का झूठा, अधूरा और वर्ग-केन्द्रित चरित्र

• राजकुमार, गुड़गाँव, हरियाणा

पूँजीवादी प्रचार मीडिया पिछले काफ़ी समय से जेसिका लाल, आरुषि, रुचिका,और इनके जैसी कुछ और आपराधिक घटनाओं को लेकर लोगों को न्याय और सच के प्रति उनके अहसास की याद दिलाने की कोशिश कर रहा है, और अपराध के शिकार इन लोगों को "न्याय" दिलाने के लिए "लगातार" प्रचार कर रहा है। इन घटनाओं को लेकर फ़िल्में भी बन रहीं हैं। ऐसी ख़बरें सुनकर सभ्य समाज के ज़्यादातर लोग न्यायिक व्यवस्था की आलोचना किये बिना नहीं रह पाते और उन्हें कुछ समय के लिए लगता है कि समाज में काफ़ी "अन्याय" हो रहा है जिसके विरुद्ध सभी को "आवाज़" उठानी चाहिए।

अब यदि हम कुछ और तथ्य देखें, जिन पर हर व्यक्ति को अमल करने की आवश्यकता है और उन्हें इनको न्याय दिलाने के लिए प्रचार भी करना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्यवश कई लोगों को शायद इन घटनाओं का पता भी नहीं चलता होगा :

पहला – फ़ैक्टरियों में और ठेकेदारों के लिए काम करते समय कई मज़दूर मुनाफ़े की हवस के कारण सुरक्षा के सही इन्तज़ाम न होने से रोज़ दुर्घटनाओं में मौत के शिकार होते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है भोपाल गैस काण्ड (पृष्ठ 11, द हिन्दू, 03 अप्रैल 2011, एवं पृष्ठ 12, नई दुनिया 20 अप्रैल 2011), और रोज़ाना होने वाली अनेक दुर्घटनाएँ। (मज़दूर बिगुल, जनवरी 2011, दिसम्बर 2010)।

दूसरा – "द हिन्दू" (05 अप्रैल 2011) की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत के कई राज्यों – उड़ीसा, वेस्ट बंगाल, बिहार, छत्तीसगढ़ और असम से आकर बनवार रामगढ़ में कोयले की ख़ानों में काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूर 7 से 17 वर्ष की उम्र के बच्चे हैं, और इन ख़ानों में कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता, मज़दूरों की कोई सुरक्षा नहीं होती, उनके रहने का कोई इन्तज़ाम नहीं है, और काम करने के समय की कोई सीमा नहीं है। ये बच्चे यहाँ पर सुबह 5 बजे से रात तक काम करते हैं। कई दुर्घटनाओं में रोज़ मज़दूरों की मौत हो जाती है, जिसकी कहीं कोई सुनवाई नहीं होती। मज़दूरों के बच्चों के लिए यहाँ कोई स्कूल नहीं है और पीने के लिए पानी का कोई इन्तज़ाम नहीं है। हर दिन स्त्री मज़दूरों का यौन उत्पीड़न जैसी नीच बदसलूकी होती ही रहती है, और राज्य सरकार को इसकी जानकारी है, लेकिन वे इसके बारे में सिर्फ़ "सोच" रहे हैं।

तीसरा – कई किसान ग़रीबी के कारण मजबूर होकर आत्महत्याएँ कर रहे हैं। (मज़दूर बिगुल, जनवरी 2011)

चौथा – पूरी दुनिया में ग़रीबों पर भूख, कुपोषण और शोषण के रूप में रोज़ अनेकों अत्याचार होते हैं और हज़ारों बच्चे हर दिन कुपोषण से या चिकित्सा के अभाव में मर जाते हैं। (Human Rights Council. "Resolution 7/14. The right to food"; United Nations, March 27, 2008, p. 3)

पाँचवाँ – अभी 3 मई को एक कारख़ाने के मालिक ने गोरखपुर में अपनी माँगों को लेकर प्रदर्शन कर रहे मज़दूरों पर अपने भाड़े के गुण्डों से गोलियाँ चलवायीं और पूरा प्रशासन उस मालिक को बचाने में, और मज़दूरों और उनके कार्यकर्ताओं को ही अपराधी ठहराने में लगा हुआ है, ("प्रदर्शन के दौरान मज़दूरों पर चली गोलियाँ, 16 घायल", दैनिक जागरण, 4 मई)।

पूरी दुनिया में ऐसे अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अपराध जो शासकों द्वारा निर्मित हैं, पूरे पूँजीवादी विश्व की जनता पर हर क्षण होते ही रहते हैं। लेकिन पूरा पूँजीवादी प्रचार तन्त्र जो जेसिका और आरुषि, जैसी एक-दो अपराधिक और कुछ छोटे-छोटे मुद्दों को लेकर रोज़ न्याय का प्रचार करता है, उसकी नज़र कभी सरकारी और गैर-सरकारी पूँजीवादी दलालों के इन अमानवीय कामों की तरफ़ नहीं पहुँचती?

पूरी पूँजीवादी व्यवस्था ने ज़्यादातर समझदार लोगों की भावनाओं को वर्ग हित के दबाव से इतना संकुचित बना दिया है कि इनका ध्यान शायद सिर्फ़ दो या तीन घटनाओं की ओर ही जाता है, और अनेक दूसरे अत्याचारों तक उनकी नज़र कभी नहीं पहुँचती, और शायद कभी कोर्ट और सीबीआई का ध्यान भी इन दबे-कुचले लोगों को न्याय दिलवाने की ओर नहीं जाता।

पूँजीपति वर्ग के ये "न्याय" के प्रचारक सिर्फ़ उसी सीमा तक न्याय, मानवता और भावनाओं की बातों का समर्थन और

प्रचार करते हैं जहाँ तक शासक वर्ग का और ख़ुद उनका असली चेहरा उजागर न हो। पूरा पूँजीवादी प्रचारतन्त्र अपने प्रचार माध्यमों से कुछ मध्यवर्गीय घटनाओं की आड़ लेकर ग़रीब मेहनतकश जनता पर हर दिन, हर समय और हर जगह हो रहे अनेक पूँजीवादी अत्याचारों से लोगों का ध्यान भटकाने, बहुसंख्यक आबादी की सभी समस्याओं को लेकर उठने वाली माँगों को दबाने और सच को लगातार पर्दे के पीछे ढकेलने के साथ लोगों की सामाजिक भावनाओं, मानवीय आदर्शों और जनवादी मूल्यों को वर्ग सीमाओं में संकुचित करने का कार्य करता है।

यह सामाजिक यथार्थ जो थोड़ी सी मेहनत के बाद प्रत्यक्ष दिख जाता है, लेकिन इसके पीछे छुपा हुआ भौतिक कारण क्या है? कार्ल मार्क्स के द्वारा दर्शन की दरिद्रता लेख में लिखे गये शब्दों में, "अन्ततः वह समय आया जब हर चीज़ जो मनुष्य के लिए अपरिहार्य थी विनिमय और प्रतियोगिता की वस्तु बन गयी, और उनकी आवश्यकता से अलग कर दी गयी। यह वह समय था, जब हर वस्तु जिसका पहले सिर्फ़ आदान-प्रदान किया जाता था, लेकिन विनिमय नहीं हुआ था; दान की जाती थी, लेकिन बेची नहीं गयी थी; ले ली जाती थी, लेकिन कभी ख़रीदी नहीं गयी थी – सदाचार, प्रेम, विश्वास, ज्ञान, विवेक आदि – कहें कि जब हर चीज़ वाणिज्य में सिमट गयी। यह सामान्य भ्रष्टाचार, सार्वभौमिक घूसखोरी का समय था, या राजनीतिक अर्थशास्त्र के शब्दों में कहें कि जब हर नैतिक या भौतिक चीज़ बाज़ार में अपने मूल्य पर बिकने वाली एक वस्तु बन गयी थी।" यह समय पूँजीवादी वर्ग समाज के उदय का और मनुष्य की औद्योगिक प्रगति के साथ सामाजिक पतन का था, जो साम्राज्यवाद तक पहुँचकर आज अपनी कब्र खोद रहा है। और ऐसी सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत शासक वर्ग के न्याय, व्यक्तियों के विचारों और सामाजिक मूल्यों, यहाँ तक कि व्यक्ति की भावनाओं तक को भी पूँजी का गुलाम बनने से नहीं रोका जा सकता। पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के अन्तर्गत यह स्वाभाविक ही है कि स्वतःस्फूर्त ढंग से सारा न्याय मानवीय मूल्य और यहाँ तक कि मानवीय भावनाएँ भी वर्ग केन्द्रित हो जाती हैं।

लोगों की सामाजिक भावुकता का स्रोत बहुसंख्यक लोगों की भौतिक परिस्थितियों में उन पर हो रहे अत्याचारों को देखकर उत्पन्न होने वाली आत्म-ग्लानि से पैदा होता है, लेकिन क्योंकि समाज की सच्चाई को छुपाने में शासक वर्ग कोई कोताही नहीं करता, इसलिए समाज की अधूरी समझ के चलते पूँजीवादी अधिरचना की वर्ग अवस्थिति पर केन्द्रित संस्कृति में न्याय और भावनाएँ पक्षपातपूर्ण हो जाती हैं। और इस प्रकार के कुछ लोग, जो कहते हैं कि वे न्याय-प्रिय हैं, भावुकता उनकी कमज़ोरी है, और कोई ग़लत चीज़ उनसे देखी नहीं जाती, वे भी वर्ग हितों के दायरे तक ही सोचते हैं, और समाज के मेहनतकश वर्ग पर लगातार हो रहे अत्याचारों से अपना मुँह मोड़ लेते हैं। लेकिन जब इन लोगों को बताया जाता है कि हर दिन इस समाज में मौजूद परजीवी, श्रम को चूस रहे हैं, तो ये न्यायप्रिय लोग छुपाने की पूरी कोशिश करते हैं, लेकिन उनके न्याय का मुखौटा उतर जाता है, और पूँजीवादी वर्ग-स्वार्थ की नींव पर खड़े उनके स्वार्थी मूल्यों और न्याय का असली चेहरा बेनक़ाब होकर उनकी सच्चाई को उजागर कर देता है। और ये सब उनके अनजाने में स्वतःस्फूर्त ढंग से होता है।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था समाज के इस पक्षपातपूर्ण, वर्ग केन्द्रित, अधूरे चेहरे को दिखाकर लोगों को गुमराह करती है, और इस सारे प्रचार से जनता के सामने एक काल्पनिक न्याय की तस्वीर प्रस्तुत करती है। यहाँ तक कि ग़रीब मज़दूर और किसान भी, जो अपने जैसे दूसरे करोड़ों लोगों के बारे में कभी नहीं जान पाते, इन ख़बरों को सुनकर वे भी सोचने लगते होंगे कि कहाँ मैं अपनी भूख, कुपोषण, बेरोज़गारी, शोषण, मालिक के अत्याचारों (!) को लेकर कोसता रहता हूँ, जबकि पूरी "न्याय" व्यवस्था लोगों को "न्याय" दिलाने के लिए इतना "संघर्ष" कर रही है!!

अब सवाल यह है कि इस सारे प्रचार के माध्यम से वर्ग केन्द्रित पक्षपातपूर्ण संस्कृति के साथ संकुचित भावुकता, संकीर्ण न्याय और सापेक्ष मानवतावादी विचारों की सुरक्षा करने का उद्देश्य क्या है? इसका एकमात्र कारण यह है कि यदि जनता की भावनाओं और जानकारी को समाज की असली नंगी तस्वीर के साथ जोड़ दिया जायेगा तो झूठ के खम्भों पर टिका पूँजीवादी शोषण तन्त्र ज़्यादा दिन नहीं टिक सकेगा, क्योंकि सच्चाई को जानते हुए कोई भी समझदार व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के शोषण पर ख़ुद आराम (अय्याशी) से नहीं रह सकता। इस प्रकार पूरा पूँजीवादी तन्त्र शिक्षा, प्रचार और मनोरंजन के माध्यमों से लेकर हर क्षेत्र में इसी प्रकार की दूसरी अनेक समस्याओं के कारणों और न्याय के अधूरे, ग़लत और काल्पनिक विश्लेषणों के माध्यम से समाज में पूँजी का एक आधार बनाता है। राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में कहें तो, "लोगों को मानसिक रूप से गुलाम बना देता है।"

यदि कोई व्यक्ति समाज के सबसे शोषित वर्गों के बीच जाकर देखे तो उसे पता चलेगा कि पूँजीवादी निरंकुशता और तानाशाही के नंगे चेहरे की असली अभिव्यक्ति मज़दूरों और ग़रीब किसानों के बीच देखने को मिलती है, उनमें कोई दिखावा और कोई झूठ नहीं होता, और उन्हीं के बीच भविष्य के समानतावादी सर्वहारा मूल्यों, न्याय, सिद्धान्तों और संस्कृति के बीजों का निर्माण होते हुए दिखता है, जहाँ से भविष्य में एक नये सामाजिक आधार के निर्माण के लिए अंकुर फूटेंगे।

यही कारण है कि हर प्रगतिशील व्यक्ति को मज़दूरों के साथ एकजुट होकर ख़ुद को सर्वहारा संस्कृति में ढालना चाहिए सिर्फ़ तभी हम पूँजीवादी गुलामी पर केन्द्रित वर्ग मूल्यों, झूठे आदर्शों, और झूठी भावनाओं से मुक्त हो सकते हैं, अपनी राजनीतिक, आर्थिक और सैद्धान्तिक चेतना को सही दिशा में विकसित कर सकते हैं, पतनशील पूँजीवादी संस्कृति से ख़ुद को बचा सकते हैं, और सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण हासिल कर सकते हैं। सिर्फ़ तभी हम पतनशील पूँजीवादी विचारों से बचकर रह सकते हैं, और एक नये समाज की नींव रखने में सफल हो सकते हैं। यह पूँजीवादी संस्कृति में पले-बढ़े किसी भी प्रगतिशील व्यक्ति के लिए अपने विचारों को झाड़ने-बुहारने और उनमें से प्रगतिशील बातों को चुनने की एक छलनी है।

श्रम क़ानूनों के उल्लंघन के ख़िलाफ़ दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के नेतृत्व में मेट्रो रेल ठेका कर्मचारियों के संघर्ष का नया दौर शुरू

11 जुलाई को दिल्ली मेट्रो रेल कर्मचारियों ने अपने आन्दोलन के नये दौर की शुरुआत करते हुए नई दिल्ली में जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन किया और मेट्रो के निदेशक ई. श्रीधरन का पुतला दहन किया। पिछले क़रीब ढाई वर्षों से दिल्ली मेट्रो रेल के ठेका कर्मचारियों की यूनियन 'दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन' मेट्रो रेल के कर्मचारियों को बुनियादी श्रम अधिकार भी नहीं मिलने के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रही है। इस संघर्ष की शुरुआत 2008 में मेट्रो रेल स्टेशनों पर काम करने वाले सफ़ाई कर्मचारियों के आन्दोलन से हुई थी। इस आन्दोलन के बाद सफ़ाई कर्मचारियों को सरकारी न्यूनतम मज़दूरी की दर से वेतन देना तो शुरू नहीं किया गया, लेकिन उनके वेतनों में बढ़ोत्तरी की गयी। इसके बाद इस आन्दोलन में मेट्रो फ़ीडर बस सेवा के चालक व परिचालक भी जुड़ गये। 2009 में दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के बैनर तले नई दिल्ली स्थित मेट्रो भवन पर दिल्ली मेट्रो के ठेका कर्मचारियों ने धरना दिया। इस धरने के बाद क़रीब 46 लोगों को गिरफ़्तार किया गया, जो दो दिन तक तिहाड़ जेल में बन्द रहे। लेकिन इसके बावजूद मेट्रो कर्मचारियों का आन्दोलन जारी रहा। इस बीच दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन ने

यूनियन के संघर्ष के चलते मेट्रो फ़ीडर बस सेवा का ठेका रद्द कर दिया।

लेकिन इन संघर्षों के बावजूद अभी भी दिल्ली मेट्रो रेल के भीतर टिकट वेण्डिंग ऑपरेटरों, सफ़ाई कर्मचारियों और सुरक्षाकर्मियों को श्रम क़ानूनों द्वारा प्रदत्त बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं दी जा रही हैं। मिसाल के तौर पर, टिकट वेण्डिंग ऑपरेटरों की न्यूनतम मज़दूरी क़रीब आठ हज़ार बनती है, जबकि उन्हें मात्र साढ़े चार से पाँच हज़ार रुपये दिये जाते हैं। सफ़ाई कर्मचारियों की न्यूनतम मज़दूरी क़रीब पौने सात हज़ार रुपये बनती है लेकिन उन्हें साढ़े तीन से चार हज़ार रुपये पर खटाया जाता है और वह भी बिना किसी साप्ताहिक छुट्टी के! यूनियन के बैनर तले संघर्ष के बाद हाल ही में कुछ ठेका कम्पनियों

ने दबाव में आकर सफ़ाई कर्मचारियों को साप्ताहिक छुट्टी देने की शुरुआत की है। सिक्योरिटी कर्मचारियों को भी न्यूनतम मज़दूरी का क़रीब आधा दिया जाता है। स्टेशन स्टाफ़, जिसमें कि ये तीनों क़िस्म के कर्मचारी आते हैं, को ईएसआई, पीएफ़ आदि की क़ानून-प्रदत्त सुविधाओं से वंचित रखा जाता है। मज़दूरों को सतत कम्पनी के सुपरवाइज़रों और दबंगों के आतंक में रहना पड़ता है, जो बिना किसी स्पष्ट कारण के किसी को भी निलम्बित या निष्कासित कर सकते हैं। आम तौर पर, नौकरी पर रखने से पहले ये ठेका कम्पनियाँ, जिसमें ट्रिग सिक्योरिटीज़, बेदी एण्ड बेदी, प्रहरी, ए2ज़ेड, ऑल सर्विसेज़, आदि शामिल हैं, मज़दूरों से 'सिक्योरिटी राशि' के नाम पर 40 से 70 हज़ार रुपये तक लेती हैं। वास्तव में यह 'सिक्योरिटी राशि' लेना ही ग़ैर-क़ानूनी है और यह इसलिए ली जाती है कि मज़दूर अपना मुँह बन्द कर चुपचाप काम करें और अपने अधिकारों के लिए आवाज़ न उठायें। श्रम क़ानूनों के इन नग्न उल्लंघनों में न सिर्फ़ ये निजी ठेका कम्पनियाँ शामिल हैं बल्कि स्वयं दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन भी शामिल है। डीएमआरसी ने दिल्ली मेट्रो रेल की तमाम उन सेवाओं को ठेके पर दे रखा है जो स्थायी प्रकृति का काम हैं। वह कैजुअल या अस्थायी रूप से नहीं किये जाते। मिसाल के तौर पर, टिकट वेण्डिंग, सफ़ाई और सिक्योरिटी एक स्थायी प्रकृति का काम है। लेकिन इन सभी कामों को दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन ने ठेके पर दे रखा है जो कि सीधे-सीधे क़ानूनों का उल्लंघन है। वेतन दिये जाने के समय डीएमआरसी का कोई नुमाइन्दा मौजूद रहना चाहिए। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं होता। ठेका मज़दूर क़ानून 1971 के अनुसार दिल्ली मेट्रो रेल में कार्यरत सभी ठेका मज़दूरों को उनके क़ानून-प्रदत्त अधिकार मिलने की गारण्टी करना डीएमआरसी की ज़िम्मेदारी है। लेकिन दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के सूचना अधिकार अधिनियम के तहत दायर याचिका के जवाब में डीएमआरसी ने स्वयं यह माना है कि उसके पास अपने ठेका मज़दूरों का कोई रिकॉर्ड नहीं है। यदि उसके पास अपने ठेका मज़दूरों का कोई रिकॉर्ड ही नहीं है तो आख़िर वह सुनिश्चित कैसे करती है कि सभी श्रम क़ानून लागू हो रहे हैं? वास्तव में, इसके लिए ठेका कम्पनियों से ही, जो कि स्वयं श्रम क़ानूनों के नग्न उल्लंघन में लिप्त हैं, एक लिखित वचन ले लिया जाता है कि वे श्रम क़ानूनों को लागू करेंगी, अन्यथा उन पर कार्रवाई की जायेगी। लेकिन यह महज़ एक औपचारिकता है। इस औपचारिकता के पूरे होने के बाद ठेका कम्पनियाँ और डीएमआरसी दोनों ही श्रम क़ानूनों के उल्लंघन में लग जाते हैं। यहाँ तक कि डीएमआरसी ने अपनी ठेका कम्पनियों से ऐसे क़रार किये हैं जो कि ग़ैर-क़ानूनी हैं! डीएमआरसी और ठेका कम्पनियों के बीच के क़रारनामे में यह लिखा गया है कि किसी भी क़िस्म के क़ानूनों के उल्लंघन की सूरत में डीएमआरसी की कोई जवाबदेही नहीं होगी और जवाबदेही पूरी तरह ठेका कम्पनियों की होगी। ऐसा कोई भी क़रार कोई सरकारी या ग़ैर-सरकारी संस्थान नहीं बना सकता

जिसमें प्रधान नियोक्ता ने अपने आपको श्रम क़ानूनों के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने से अलग कर लिया और अपना पल्ला झाड़ लिया है। यह क़रार ही ग़ैर-क़ानूनी है। इन सभी मुद्दों पर दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन श्रम न्यायालय में मुक़दमा दायर करने के अलावा हाईकोर्ट में जनहित याचिका दायर करने पर विचार कर रही है। इस क़ानूनी पहलू के साथ ही यूनियन सड़क पर उतरकर भी मेट्रो मज़दूरों की लड़ाई को सार्वजनिक स्पेस में ला रही है।

10 जुलाई को दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के नेतृत्व में क़रीब 100 मेट्रो मज़दूर और कुछ अन्य संगठनों से समर्थन में आये कार्यकर्ताओं ने ज़बरदस्त प्रदर्शन किया और 'मेट्रो-मैन' ई. श्रीधरन का पुतला फूँका। मेट्रो मज़दूरों की माँग है कि 1 अप्रैल, 2011 से लागू नये न्यूनतम वेतन का एरियर समेत भुगतान किया जाये और ईएसआई और पीएफ़ की सुविधा दी जाये; कम्पनियों द्वारा ग़ैर-क़ानूनी और नाजायज़ ढंग से नौकरी से बाहर किये जाने को बन्द किया जाये और निकाले जाने या निलम्बित किये जाने की एक सुपरिभाषित नीति होनी चाहिए; मज़दूरों के कार्यकाल को आठ घण्टे तक सीमित रखा जाना चाहिए और ओवरटाइम पर दोगुनी दर से वेतन का भुगतान होना चाहिए; सभी सफ़ाई कर्मचारियों को साप्ताहिक छुट्टी मिलनी चाहिए; और वेतन पर्ची मिलनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, कई अन्य माँगें भी मज़दूरों ने प्रशासन के सम्मुख रखीं। प्रदर्शन के बाद सैकड़ों मज़दूरों के हस्ताक्षर वाले एक ज्ञापन और माँगपत्रक को क्षेत्रीय श्रमायुक्त, डीएमआरसी निदेशक श्रीधरन, भारत के प्रधानमन्त्री और श्रम मन्त्री, दिल्ली की मुख्यमन्त्री और श्रम मन्त्री को सौंपा गया और चेतावनी दी गयी कि यदि ठेका मज़दूरों के क़ानूनी अधिकारों का हनन जारी रहा तो मेट्रो मज़दूरों के पास सड़क पर उतरकर आन्दोलन करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं बचेगा।

मेट्रो मज़दूरों का दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के तहत आन्दोलन की शुरुआत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दिल्ली मेट्रो रेल की पूरी कार्यशक्ति बेहद बिखरी हुई है। टिकट-वेण्डिंग करने वाले आठ-दस लोगों का स्टाफ़ अलग केबिन में बैठा दिन पर टोकन बनाता रहता है; आठ सफ़ाईकर्मियों की शिफ़्ट अलग-अलग अपने काम में लगी रहती है और सिक्योरिटी गार्ड्स भी अलग-अलग गेटों पर ड्यूटी पर लगे रहते हैं। यह कार्यशक्ति पूरी दिल्ली में बिखरी हुई है। इसे न तो कार्यस्थल पर ही बड़ी संख्या में एक जगह पकड़ा जा सकता है और न ही किसी एक रिहायश की जगह पर। ऊपर से दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन का तानाशाह प्रशासन और ठेका कम्पनियों की गुण्डागर्दी के आतंक! इन सबके बावजूद लम्बी तैयारी, प्रचार, स्टेशन मीटिंगों के बाद यूनियन ने सैकड़ों मज़दूरों को जुटाकर यह प्रदर्शन करके सिद्ध किया कि मेट्रो मज़दूर भी एकजुट होकर लड़ सकते हैं। दिल्ली मेट्रो रेल मज़दूरों के बीच ठेका मज़दूरों की यूनियन बनने का कई कारणों से भारी महत्त्व है। डीएमआरसी भारतीय पूँजीवाद के विकास के प्रतीकों में से एक है। यह एक वैश्विक शहर पर दिल्ली के दावे को मज़बूत करने वाला सबसे अहम कारक है। यह व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्र के रूप में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में पूँजी के संचरण की गति को बढ़ाती है। इस रूप में यह पूँजीवादी व्यवस्था के लिए एक बेहद महत्त्वपूर्ण परिवहन माध्यम है। इसके रुकने या ठप्प पड़ने को व्यवस्था बर्दाश्त नहीं कर सकती और ऐसी किसी भी स्थिति से बचना चाहेगी। इसीलिए दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन अपने मज़दूरों को किसी भी क़ीमत पर संगठित होने से रोकना चाहता है। लेकिन ऐसे प्रयास सफल नहीं हो सकते। मेट्रो रेल की चमचमाती दुनिया के नीचे मज़दूरों के जीवन का जो नर्क जैसा रसातल है, वह आने वाले समय में उन्हें इस शोषण, उत्पीड़न और अन्याय के लिए संगठित करेगा और यह प्रक्रिया शुरू हो चुकी है।

'नौजवान भारत सभा' के बैनर तले खदरा इलाक़े के नागरिकों द्वारा धरना-प्रदर्शन

आह्वान के पिछले अंकों में हम लखनऊ शहर के खदरा इलाक़े में, 'नौजवान भारत सभा' के नेतृत्व में स्वच्छ जल, साफ़-सफ़ाई और चिकित्सा जैसे बेहद बुनियादी नागरिक अधिकारों को लेकर इलाक़े के लोगो द्वारा छेड़े गये संघर्ष की रपट देते रहे हैं। ज्ञात होगा कि इस संघर्ष की शुरुआत पिछले साल अक्टूबर के महीने से की गयी थी, जब बरसात के चलते पूरे इलाक़े में डेंगू, मलेरिया और मियादी बुखार से एक महामारी जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी और क़रीब 70 लोग, जिसमें बड़ी संख्या में बच्चे शामिल थे, मौत के शिकार हुए थे। वैसे यह कोई अप्रत्याशित घटना नहीं थी। 8 फ़ीसदी की दर से कुलाँचे भर रही अर्थव्यवस्था वाले इस भारत देश में ग़रीब बस्तियों में रहने वाले देश की कुल आबादी के 85 फ़ीसदी लोग हर मौसम में (जाड़ा, गर्मी, बरसात) बेहद मामूली बीमारियों से अपने लोगो की जान गँवाते देखते रहने के लिए मजबूर होते हैं।

'नौजवान भारत सभा' ने पिछले साल ही इलाक़े के लोगो के साथ मिलकर यह संकल्प लिया था कि इस बरसात के मौसम में सरकारी उपेक्षा के चलते बेगुनाह बच्चों और नागरिको को मौत का शिकार नहीं होने देंगे। इसी के मद्देनज़र पिछले एक साल से चल रही लड़ाई को पिछले महीने अपने निर्णायक दौर में पहुँचाने के लिए गतिविधियाँ तेज़ कर दी गयीं। जून के महीने के पहले हफ़्ते से ही पूरे खदरा (विशेषकर वे इलाक़े जहाँ पिछले वर्ष ज़्यादा लोग बीमार पड़े थे) में गली मीटिंगों का जाल बिछा दिया गया। हर रात 8.30 बजे दो से तीन गलियों के लोगो का जुटान किया जाता था और फिर समस्या के सन्दर्भ में पूरी बात रखते हुए, लोगों को एकजुट होकर प्रशासन के समक्ष अपनी माँगें रखने के लिए तैयार किया जाता था। बाबा का पुरवा, मशालची टोला और रामलीला मैदान के

निवासियों की कुल आठ गली मीटिंगें आयोजित की गयीं। इन मीटिंगों में साझा तौर पर यह तय किया गया कि 20 जून, 2011 को नगर निगम कार्यालय पर धरना-प्रदर्शन किया जायेगा और नगर आयुक्त महोदय को एक छः सदस्यीय प्रतिनिधिमण्डल द्वारा अपना माँगपत्रक सौंपा जायेगा। इस माँगपत्रक की माँगें हैं –

1. पूरे इलाक़े में नालियों से लेकर जल-भराव इत्यादि के लिए नियमित एवं निशुल्क सफ़ाई की व्यवस्था की जाये।
2. घरों से निकलने वाले कूड़े के लिए इलाक़ेवार कूड़ेदान रखे जायें एवं नियमित अन्तराल पर उनकी सफ़ाई करायी जाये।
3. पीने के साफ़ पानी की सप्लाई की व्यवस्था की जाये एवं ख़राब पड़े हैण्डपम्प की मरम्मत करायी जाये।
4. पूरे इलाक़े में मासिक अन्तराल पर हर परिवार के लिए उचित संख्या में क्लोरीन की गोलियों का वितरण किया जाये।
5. एक नया स्वास्थ्य केन्द्र खोला जाये। जिसमें 8 घण्टे के लिए कम-से-कम तीन चिकित्सक उपलब्ध हों।
6. फ़ॉगिंग मशीनों से नियमित तौर पर इलाक़े में दवा का छिड़काव कराया जाये।

तय कार्यक्रम के अन्तर्गत 20 जून, 2011 को इलाक़े से क़रीब 60 लोगों, जिसमें बड़ी संख्या में महिलाएँ शामिल थीं, ने इकट्ठा होकर नगर निगम कार्यालय पर धरना-प्रदर्शन किया। इस धरना-प्रदर्शन के दौरान 'नौजवान भारत सभा' के लालचन्द्र ने कहा कि हमारा यह सामूहिक प्रयास नगर आयुक्त महोदय को जल्द ही हमें बुनियादी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए बाध्य कर देगा। अगर ऐसा नहीं होता है, तो संघर्ष को और व्यापक स्तर पर संगठित किया जायेगा। सुधा आँटी ने कहा कि चुनावी पार्टियाँ कभी सही मौक़े पर हमारा साथ देने नहीं आतीं, न ही उनसे ऐसी उम्मीद की जानी चाहिए। हमारी लड़ाई हमें ख़ुद अपने संगठन के दम पर छेड़नी होगी। इसके बाद छः सदस्यीय प्रतिनिधिमण्डल ने नगर आयुक्त को अपना ज्ञापन सौंपा और उनसे इन माँगों पर दो हफ़्ते के भीतर कार्यवाही करने की माँग की।

आज जब चारों ओर आम जनता पस्तहिम्मती और निराशा की शिकार है, उस दौर में इस तरह के छोटे-छोटे संघर्ष भी बहुत मायने रखते हैं। दूसरे एक भावी जनक्रान्ति के लिए लोगो को इलाक़ाई माँगों के इर्द-गिर्द संगठित करना अपने आप में आज हमारे सामने उपस्थित सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यभार है।

छात्रों-युवाओं के लिए राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित कुछ महत्त्वपूर्ण किताबें

नौजवानों के लिए विशेष

1.	**नौजवानों से दो बातें**	पीटर क्रोपोटकिन	5.00
2.	**क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा**	भगतसिंह	5.00
3.	**मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका**	भगतसिंह	5.00
4.	**बम का दर्शन और अदालत में बयान**	भगतसिंह	5.00
5.	**जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो**	भगतसिंह	5.00
6.	**भगतसिंह ने कहा...**(चुने हुए उद्धरण)	भगतसिंह	5.00

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़

1.	**भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़**	स. सत्यम	200.00
2.	**शहीदेआज़म की जेल नोटबुक**	भगतसिंह	70.00
3.	**विचारों की सान पर**	भगतसिंह	35.00

क्रान्तिकारियों के विचारों और जीवन पर

1.	**बहरों को सुनाने के लिए** (भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और कार्यक्रम)	एस. इरफ़ान हबीब	100.00
2.	**क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास**	शिव वर्मा	15.00
3.	**भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति**	बिपन चन्द्र	15.00
4.	**अमर शहीद सरदार भगतसिंह**	जितेन्द्रनाथ सान्याल	75.00
5.	**यश की धरोहर**	भगवानदास माहौर, शिव वर्मा, सदाशिवराव मलकापुरकर	40.00
6.	**भगतसिंह और उनके साथी**	अजय घोष, गोपाल ठाकुर	40.00
7.	**संस्मृतियाँ**	शिव वर्मा	60.00
8.	**शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक**	स. डॉ. हरदीप सिंह	30.00

आह्वान पुस्तिका शृंखला

1.	**छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?**		10.00
2.	**आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष**		10.00
3.	**आतंकवाद के बारे में : विभ्रम और यथार्थ**		10.00
4.	**क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन**		15.00
5.	**प्रेम, परम्परा और विद्रोह**	कात्यायनी	20.00

पुस्तकें मँगाने के लिए सम्पर्क करें

जनचेतना डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020, फ़ोन : 0522-2786782

ईमेल : janchetna@rediffmail.com ब्लॉग : janchetnaa.blogspot.com

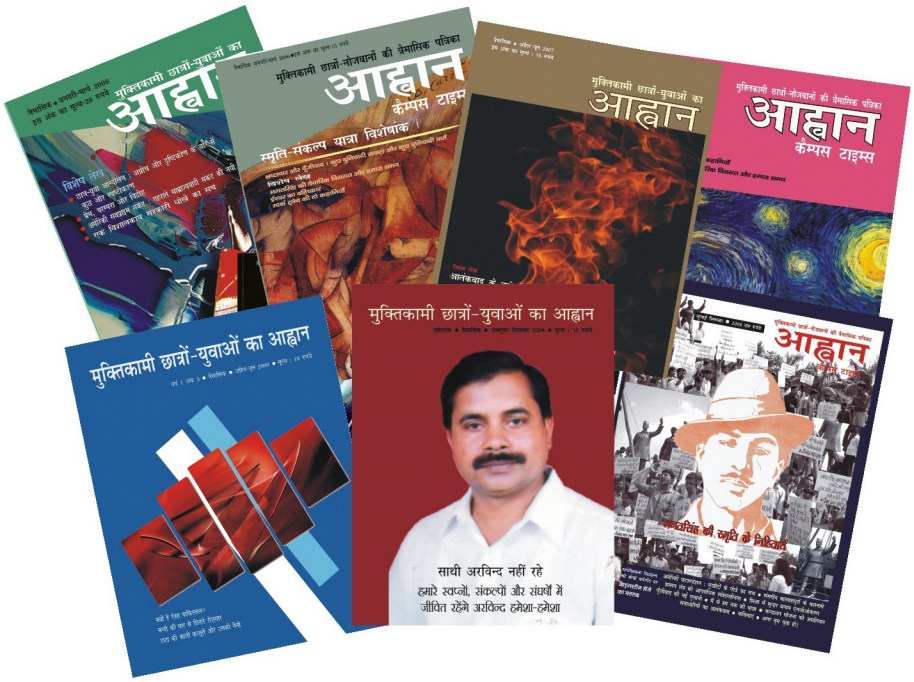

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

आह्वान के नियमित पाठकों के लिए एक विशेष उपहार : आह्वान के सभी उपलब्ध अंकों का सेट मात्र रु. 100 में! (डाक व्यय अतिरिक्त)

दिलचस्पी रखने वाले सभी पाठक लिखें :

सम्पादकीय कार्यालय :

बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094

फोन : 9211662298

खत्म करो पूँजी का राज लड़ो, बनाओ लोक-स्वराज!

हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से ख़ारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से ख़ारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताक़त उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है– 'सारी सत्ता मेहनतकश को!'

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन, देहाती मज़दूर यूनियन, स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन

द्वारा चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 011-64623928
ईमेल : disha.du@gmail.com